सद्धर्मसंरक्षक

मुनि श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) महाराज का

जीवन-वृत्तान्त

: लेखक :

पण्डित श्रीहीरालालजी दुग्गड

: प्रकाशक :

श्रीभद्रंकरोदय शिक्षण ट्रस्ट

गोधरा

वि.सं. २०७० ई.स. २०१३

Shrenik / D / A-SHILCHANDRASURI / Hindi Book Mukhpage (07-10-2013) (1st-1-11-2013) (2nd-12-11-13) p6.5

सद्धर्मसंरक्षक

मुनि श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) महाराज का जीवन-वृत्तान्त

लेखक : **पण्डित श्रीहीरालालजी दुग्गड**

प्रकाशक : **श्री भद्रंकरोदय शिक्षण ट्रस्ट - गोधरा**

प्रस्तुत संस्करण : वि.सं. २०७०

नकल : ५००

पृष्ठ : ८ + २२४

मूल्य : ₹ १५०/-

प्राप्तिस्थान : **१. श्रीविजयनेमिसूरि-स्वाध्यायमन्दिर**
१२, भगतबाग सोसायटी,
नवा शारदामंदिर रोड, पालडी,
अहमदाबाद-३८० ००७
फोन : ०७९-२६६२२४६५
(मो.) ९४०८६३७७१४

२. श्रीसरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल,
अहमदाबाद-३८० ००१
फोन : ०७९-२५३५६६९२

मुद्रक : **किरीट ग्राफिक्स** - फोन : ०७९-२५३३००९५

सत्यसाधक परमगुरुदेव

पूज्यपाद गुरुदेव श्रीबूटेरायजी महाराज का चरित्र सांप्रत तपगच्छ के लिए एक आधारशिला-समान है । वे न होते, वे पंजाब को व मुहपत्ति के दोरे को छोडकर गुजरात में एवं संविग्न पक्ष में-तपगच्छ में न आये होते और क्रियोद्धार माना जाय ऐसा पुरुषार्थ किया न होता, तो शायद आज हमारी, संघ की एवं गच्छ की स्थिति अलग ही होती । संवेगमार्ग शायद पुनर्जीवित न होता । इसीलिए लगता है कि वे हमारे वर्तमानकालीन संघ एवं गच्छ की आधारशिला के समान थे ।

ऐसे महात्मापुरुष का जीवन कितना संघर्षमय था ! कितना बोधदायक, प्रेरक व उपकारक था ! यह समजने के लिए उपयुक्त साधन है यह चरित्रग्रंथ, जो विद्वान् श्रावक श्रीहीरालाल दुग्गड ने लिखा है ।

इस चरित्र को पढने से पता चलता है कि इस महात्मा-पुरुष का पूरा जीवन सत्य की खोज में एवं साधना में गुजरा था । जहां भी असत्य दिखाई पडा, उन्होंने उसका विरोध किया, उसको नाबूद कर सत्य पाने के लिए संघर्ष किया, और सत्य को पाकर भी उसकी साधना व आराधना करने में मचे रहे ।

गृहस्थ-अवस्था में जब उन्हें प्रतीति हुई कि संसार निःसार है, और आत्मा एवं आत्मकल्याण की खोज ही वास्तविक है, तब उन्होंने अपनी माता की अनुमति लेकर जहां तक खुद की पहुंच थी,

वहां तक अनेक मत-पंथ के साधु-संतों की गवेषणा की । सिवा जैन मुनि के, कहीं पर भी उन्हें सच्चा कल्याणकारी मार्ग नहीं लगा । उन्होंने स्थानकमार्गी जैन साधु की शरण ली ।

वहां रहकर जब उन्होंने शास्त्राध्ययन किया, तो प्रतीत हुआ कि यह भी मूल मार्ग तो नहीं है । यहां भी अनेक बातें हैं जो मार्गविमुख है । सही मार्ग तो कोई और ही होना चाहिए । और उन्होंने मूर्ति का स्वीकार किया, एवं मुहपत्ति का दोरा तोडा । सत्य की उपासना के बदले में उन्होंने कैसे व कितने कष्ट व संघर्ष झेले, उसका विस्तृत बयान इस ग्रंथ में पाया जाता है, जिसका वांचन हमें आश्चर्यचकित करता है ।

गुजरात में आने के पश्चात् जब संवेगी गुरु की खोज में वे सफल हुए और संवेगमार्ग अपनाया; तो वहां पर भी उनको आचार की शिथिलता मालूम पडी, तो उन्होंने उन गुरुओं से भी अपने को अलग कर दिया । तपगच्छ को पसंद करना, उसमें भी यति-पक्ष का त्याग करना, बाद में गुरुजनों का भी त्याग करना, यह सब सत्य के खातिर किए गए संघर्षरूप था, और सत्य की वेदी पर दिए गए बलिदानस्वरूप था ।

बाद में यतियों का जुल्म, उसका निवारण, एकान्त निश्चयवादी लोगों के साथ संघर्ष, त्रिस्तुतिक मत के लोगों से संघर्ष - इत्यादि कई तरह के संघर्ष हुए । सब में ये गुरुदेव एवं उनके प्रतापी पट्टशिष्य मूलचन्दजी व शान्तमूर्ति शिष्य वृद्धिचन्द्रजी - यह त्रिपुटी हमेशा अग्रसर रही व सफल भी रही । यही कारण है कि आज तपगच्छ इतना विशाल है व फला-फूला है ।

उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है 'मुहपत्तिचर्चा' । यह आत्मकथा शायद कोई जैन मुनि ने लिखी हुई एकमात्र आत्मकथा

है। इसमें उन्होंने अपने संघर्षों का व सत्य की खोज का सुस्पष्ट वर्णन दिया है, जो हमारे संघ की अनूठी सम्पदा है ।

उनके जीवन की विशेषता यह है कि उन्होंने असत्य का सिर्फ निषेध ही नहि किया; सत्य का केवल पक्ष ही नहि लिया; किन्तु स्वयं अपने जीवन में सत्य का हरसंभव पालन भी अचूक किया । सत्य का पक्ष लेना मगर पालन नहि करना - ऐसा दोहरा भाव-वर्ताव उनके जीवन में कहीं भी नहि था । इसीलिए वे जगत्पूज्य सद्गुरु एवं धर्मरक्षक महात्मा कहलाए, ऐसा कहना चाहिए ।

''शासनसम्राट्-भवन'' के निर्माण के मंगल अवसर पर उन परमगुरु की भव्य गुरुमूर्ति की उक्त भवन में प्रतिष्ठा हो रही है, साथ ही साथ उनके इस चरित्रग्रंथ का प्रकाशन भी हो रहा है, यह हमारे सभी के लिए परम आनंद की बात है ।

इस ग्रंथ का संपादन मुनि त्रैलोक्यमंडनविजयजी ने भक्तिपूर्वक किया है । इस प्रकाशन में भावनगर के श्रीसंघ ने अपने ज्ञानद्रव्य का सद्व्यय किया है एतदर्थ धन्यवाद ।

ज्ञानपंचमी - २०७० *-शीलचन्द्रविजय*
साबरमती

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ नं.
जन्म और निवासस्थान	१
विद्याभ्यास तथा आत्मजाग्रति	४
सद्गुरु की खोज में	७
स्थानकमार्गी साधु-दीक्षा	१०
आगमानुकूल चारित्र पालने की धून	११
सद्धर्म की प्ररूपणा के लिये अवसर की प्रतीक्षा	२४
सत्य-प्ररूपणा की ओर	२६
मुखपत्ती-चर्चा	३३
उग्र विरोध का झंझावात	५०
जिनप्रतिमा मानने और पूजने की चर्चा	६०
उत्कट विरोध का डटकर मुकाबिला	७३
गुजरात की ओर प्रस्थान	८६
गुजरात देश में आगमन	९०
श्रीसिद्धगिरि की यात्रा	९२
योग्य गुरु की खोज के लिये मनोमंथन	९६
संवेगी दीक्षा ग्रहण	१०६

विषय	पृष्ठ नं.
संवेगी मुनि श्रीबुद्धिविजयजी	१०६
शिक्षाप्रद एक घटना	१०७
एकान्त में मंत्रणा	१०९
आदर्श गुरुभक्ति	१०९
पंचांगी सहित आगमों का अभ्यास	१११
पंजाब की और विहार	११४
पंजाब में पुनः आगमन और कार्य	११५
चमत्कार	१२९
गुजरात में पुनः आगमन	१३३
यतियों और श्रीपूज्यों का जोर	१३४
जिनाज्ञा-विरुद्ध प्रथा का विरोध	१४३
प्रत्याघात और मुँहपत्ती-चर्चा	१४५
श्रीबूटेरायजी और शांतिसागरजी	१५४
मनोव्यथा	१६२
कुछ प्रश्नोत्तर	१६९
मुनि श्रीआत्मारामजी	१८०
अहमदाबाद में भव्य स्वागत	१८४
पूज्य आत्मारामजी के साथ कुलगुरु शांतिसागर का शास्त्रार्थ	१८५
श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा	१८७
सद्‌गुरु की खोज में	१८८
संवेगी दीक्षा ग्रहण	१९१
मार्मिक उपदेश	१९१

विषय	पृष्ठ नं.
श्रीशांतिसागर से पुनः शास्त्रार्थ	१९६
पूज्य बूटेरायजी का स्वर्गवास	१९९
सद्धर्मसंरक्षक श्रीबूटेरायजी महाराज से पहले	२०१
सद्धर्मसंरक्षक से पहले समय के जिनमंदिर	२०२
पंजाब में श्री बूटेरायजी द्वारा प्रतिष्ठित जिनमंदिर	२०५
श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) सात गुरुभाई	२०५
मुनिश्री बुद्धिविजयजी के नाम	२०६
गुरुदेव बुद्धिविजयजी के मुख्य सात शिष्यों के नाम	२०६
मुनिश्री बुद्धिविजयजी का संक्षिप्त परिचय	२०६
सत्यवीर गुरुदेव के चौमासे कहाँ और कब हुए	२०७
श्रीबुद्धिविजयजी महाराज के शिष्य	२१०
श्रीबुद्धिविजयजी महाराज द्वारा प्रतिबोधित मुख्य श्रावक	२१३
पूज्य बुद्धिविजयजी के जीवन की मुख्य घटनाएं	२१६
श्रीबुद्धिविजयजी द्वारा क्रांति	२२०

: श्रुतभक्ति :

इस चरित्रग्रन्थ के प्रकाशन में

श्री भावनगर जैन श्वे.मू.पू. तपागच्छीय सङ्घ ने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग दिया है। उनकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना।

सद्धर्मसंरक्षक

मुनि श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) महाराज का जीवन-वृत्तान्त

जन्म और निवासस्थान

पंजाब राज्य में नार्दरन(उत्तरी) रेलवे की मेन लाईन पर सरहिंद-बसी नाम का एक छोटा स्टेशन है। जो अम्बाला से ३८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर तथा लुधीयाना से २८ मील दक्षिण-पूर्व की ओर है। सरहिंद-बसी से पाँच-छह मील की दूरी पर दुलूआ नाम का एक गाँव है। यह गाँव लुधीयाना की ओर बलोलपुर से सात-आठ कोस दक्षिण की तरफ है। इस दुलूआ गाँव में एक सरपंच-चौधरी (गाथापति) जमींदार जाट रहता था। उसका नाम **टेकसिंह** था। वह सिख धर्मानुयायी सरदार था, उसका गोत्र गिल-झली था। उसकी स्त्री का नाम **कर्मो** था। वह जाँगलदेश[१] में

१. जाँगल प्रदेश - पंजाब में सतलुज नदी के इलाके का दक्षिणी भाग तथा इससे संलग्न हरियाणा के इलाके को 'जाँगल प्रदेश' (अरण्य-हरियाणा) कहा जाता है।

वर्त्तमान संगरूर जिले में जोधपुर नाम के दो बडे गाँव हैं। एक सुनाम के पास तथा दूसरा बरनाला के पास है। सरहिंद-बसी तथा जोधपुर ये दोनों गाँव पहले रियासत पटियाला में थे।

जोधपुर गाँव की बेटी थी । उसके मायकेवालों का गोत्र मान था । खेती–बाडी से उपज बहुत अच्छी थी । पर इस दम्पती को सन्तान का सुख नहीं था । बेटे का जन्म होता तो वह पंद्रह–सोलह दिनों का होकर मर जाता था । इस प्रकार कई सन्ताने होकर मर चुकी थी ।

एकदा दुलूआ गांव में एक साधुबाबा आ गया । उसकी वचन-सिद्धि की बहुत प्रख्याति थी । टेकसिंह तथा कर्मोदेवी उस महात्मा के पास गये । भक्तिभाव से नमस्कार कर उसके सामने भेंट–दक्षिणा रख नतमस्तक होकर समीप में बैठ गये । बाबाने उनसे उदासी का कारण पूछा । उन्होने कहा कि ''बाबाजी ! प्रभु का दिया हुआ हमारे यहाँ सब कुछ है । गृहस्थ के यहाँ जो भी सुखसामग्री चाहिये, उससे किसी प्रकार की भी कमी नहीं है । कमी है तो सन्तान की । हमारे यहाँ जो सन्तान जन्म लेती है, वह पन्द्रह–सोलह दिन की होकर मर जाती है । कृपा करके आप बतलावें कि हमारे भाग्य में पुत्र है अथवा नहीं ?'' महात्मा[१]जी ने दोनों के चेहरो की तरफ एकटक देखकर अपनी आंखें बन्द कर लीं और ध्यानारूढ हो गये । कुछ ही क्षणों के बाद उन्होंने अपनी आंखें खोली और मुस्कराते हुए सहज भाव से बोले – ''चौधरी साहब ! तुम चिन्ता मत करो । अब जो तुम्हारे घर बेटा जन्म लेगा, वह दीर्घजीवी होगा । किन्तु तुम्हारे पास रहेगा नहीं । छोटी उम्र में ही साधु हो जावेगा ।'' यह सुनकर दोनों बडे हर्षित हुए । बाबा के चरण छूकर बोले ''बाबा !

१. यह महात्मा जैन धर्मानुयायी नहीं था, अन्यमती था । न तो इनका परिवार ही जैन था और न ही इस गाँव में किसी जैन धर्मानुयायी का कोई घर ही था । इसलिये यहाँ के लोग जैन साधु को जानते–पहचानते भी नहीं थे । कोई जैन साधु इस गाँव में आता–जाता भी नहीं था ।

तुम्हारा आशीर्वाद सफल हो । हमें आपकी कृपा से पुत्र की प्राप्ति हो जावेगी इसमें सन्देह नहीं, फिर वह चाहे साधु हो जावे, इस बात की हमें कोई चिन्ता नहीं । उसे देखकर ही हम कृतकृत्य हो लिया करेंगे ।'' महात्माने पुनः कहा – ''पुत्र का नाम **टलसिंह** रखना । 'टल' का अर्थ है घंटा–घडियाल । तुम लोगों के यहाँ पैदा होनेवाला बच्चा बडा भाग्यशाली होगा । इसके आगे घंटे–घडियाल, बाजे बजा करेंगे । बडे–बडे सेठ, साहूकार, राजे, महाराजे इसके चरणों में झुकेंगे । जैसे टल (घंटा) बजने से चारों दिशाओं में रहनेवाले लोग सावधान हो जाते हैं, उसी प्रकार इस बालक के प्रभाव से गुमराह (पथभ्रष्ट) लोग सत्पथगामी बनेंगे ।

कुछ समय बीतने के बाद सरदार टेकसिंह की पत्नी कर्मोदेवी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । माता–पिता के लिये विक्रम संवत् १८६३ (ई०स० १८०६) का वर्ष धन्य हुआ, जिसमें इस बालकने जन्म लिया । टेकसिंह के हर्ष का पारावार न रहा । पुत्र–जन्म की खुशी में गाँववालों को सहभोज दिया । पारिवारिक जनों के सामने बालक का नाम **टलसिंह** रखा । परन्तु गाँववाले इस बालक को **दलसिंह** कहकर पुकारने लगे । 'दल' का अर्थ होता है 'समुदाय' और 'सिंह' का अर्थ होता है 'शूरवीर' । अर्थात् मानवों में श्रेष्ठ शूरवीर अग्रणी, नेता, कप्तान, कमांडर । गाँववालों का यह कहना था कि साधु बाबा इस बालक के विषय में भविष्यवाणी कर गये हैं कि यह बालक संसाररूपी भयंकर अटवी में भटकते प्राणियों की रक्षा करने में सिंह के समान नीडर नेता बननेवाला है । इस गुण को सार्थक करनेवाला नाम दलसिंह उपयुक्त है । जब यह बालक सात–आठ वर्ष का हुआ, तब इसके पिता टेकसिंह का

देहांत हो गया। कर्मोदेवी दलसिंह को साथ लेकर दूसरे गाँव में जाकर रहने लगी । उस गाँव का नाम था **बडा-कोट-साबरवान** । इस गाँव के लोग बालक को **बूटासिंह** के नाम से पुकारने लगे। 'बूटा' का अर्थ है 'हरा-भरा वृक्ष' और 'सिंह' का अर्थ है '**श्रेष्ठ**' । अर्थात् ऐसा श्रेष्ठ वृक्ष जो संसार में संतप्त भटकते प्राणियों को अपनी छत्र-छाया में रख कर सद्धर्म रूपी मीठे फलों का आस्वादन करावेगा। इस प्रकार इस बालक के तीन नाम हुए - १-टलसिंह, २-दलसिंह, ३-बूटासिंह।

विद्याभ्यास तथा आत्मजाग्रति

गाँव में पाठशाला तो थी नहीं। बूटासिंह अपनी माता के साथ प्रतिदिन गुरुद्वारे (सिक्खों का धर्म स्थान-मंदिर) में जाने लगा और गुरुग्रंथसाहब (सिक्खों के प्रथम गुरु नानकसाहब की धर्मवाणी के संकलन रूप ग्रंथ) के ग्रंथी (धर्मप्रवचनकर्ता) द्वारा धर्मोपदेश सुनने लगा । दोपहर को गुरुद्वारा में जाकर गुरुमुखी (सिक्खों की धर्मलिपि तथा भाषा) का अभ्यास करने लगा। धीरे धीरे गुरुमुखी भाषा को पढने-लिखने का प्रौढ विद्वान बन गया । सिक्खों के धर्मग्रंथों (ग्रंथसाहब, मुखमणी, जपजी आदि) का अभ्यास करने लगा । साधु-संतों की संगत में अधिक समय बिताने लगा । धर्मग्रंथों के अभ्यास से, नित्यप्रति गुरुवाणी के श्रवण-मनन और चिन्तन से धीरे-धीरे उसे संसार से वैराग्य होने लगा। बालक की आयु जब पंद्रह-सोलह वर्ष की हो गई, तो एक दिन उसने अपनी माताजी से सविनय निवेदन किया -"माताजी ! मेरे पूर्वपुण्य के प्रताप से मेरी रुचि सांसारिक सुख-भोगों की ओर बिलकुल नहीं है। मेरे भाव वैराग्य की तरफ पूर्णरूप से दृढ बन चुके हैं। मेरी

भावना संसार को त्याग देने की है। इस लिये मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दीजिये।"

माताजी ने कहा – "बेटा ! मेरे जीवन के सहारे एक मात्र तुम ही तो हो, और साधु की भविष्यवाणी भी है कि 'तुमने साधु हो जाना है'। तुम तो घर में ही साधु हो। तुमने गृहस्थी का जंजाल तो गले डाला नहीं है और न ही डालने का विचार है। तुम्हारे पिता भी नहीं है और व कोई तुम्हारा दूसरा भाई-बन्धु ही है। घर में किसी प्रकार की कमी भी नहीं है। मेरा तुम से अपार स्नेह है। मेरे बुढापे का एक मात्र सहारा भी तुम ही हो। इसलिये जब तक मैं जीवित हूँ तब तक साधु मत होना। मेरे मरने के बाद तुम साधु हो जाना।"

बूटासिंह ने कहा– "माताजी ! मेरा मन तो घर में बिलकुल लगता नहीं ! जीवन का क्या भरोसा है ? आयु तो पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर है। अंजली में जल के समान दिन-दिन क्षीण होती जा रही है। सच्ची माता तो वही है जो सदा पुत्र का कल्याण चाहती है। जिस धर्म और जाति में मैंने जन्म लिया है वह तो धर्म पर न्यौछावर होने के लिए सदा कटिबद्ध रहने की प्रेरक हैं। जिस पंजाब की धरती में मैंने जन्म लिया है वह धरती धर्मवीरों, युद्धवीरों, महावीरों, धर्म के लिये हंसते-हंसते प्राणों की बाजी लगानेवाले महापुरुषों की जननी है। धर्म और देश की शमआ पर परवाणों की तरह जल मरनेवालों को अपनी गोदी में पालनेवाली है। वीर माताओं ने अपने लालों को देश, जाति और धर्म की बलिवेदी पर हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुति देने के लिये पालने में ही लोरियां दी हैं। माताजी ! आप भी एक साहसी वीरांगना है। मैंने आपको सदा आपत्तियों, विपत्तियों और मुसीबतों

से जूंझते देखा है । आपने ही मुझे जन्मघुटी से धर्मसंस्कार दिये है । आपकी महती कृपा से ही मुझे सुदृढ वैराग्यभाव जाग्रत हुए हैं । आपने मुझे साधु-संतों की संगत में उठने-बैठने की सदा प्रेरणा की है और आपने ही मुझे उस महात्मा के वचनों का सदा स्मरण कराया है 'तुम तो साधु हो जाओगे' । वीर हकीकतराय ने अपने धर्म की रक्षा के लिये यवनों के द्वारा फांसी पर चढना स्वीकार किया था । पूरणभक्त ने अपने चरित्र की रक्षा के लिये संन्यास ग्रहण किया था । ये भी तो इस वीरभूमि पंजाब के ही सपूत थे न ? आप भी अपने पुत्र को आत्मकल्याण की तरफ अग्रेसर करने में सच्ची जननी कहलाने का गौरव प्राप्त कर धन्य हो जाओगी । कृपा कर मुझे साधु बनने की आज्ञा देकर मुझे और अपने आप को कृतार्थ करो । वह माता धन्य है जो पुत्र की सदा कल्याण-कामना चाहती रहती है ।"

पुत्र की दृढता के सामने माता नतमस्तक हो गई । गहरे विचारों में डूब गई । अन्तर्द्वन्द्व छिड गया । एक तरफ स्वार्थ है, दूसरी तरफ पुत्र की आत्मा का उद्धार है । अन्त में साहसपूर्वक बोल उठी -

"बेटा ! साधु होने जा तो रहे हो, पर एक बात ध्यान में अवश्य रखना । **तुम एक घर छोड कर दूसरा घर मत बसा लेना । अच्छी तरह देखकर त्यागी, बैरागी, पंडित, चरित्रवान गुरु को धारण करना ।** पहले गुरु को खोज कर आओ, पश्चात् मुझे पूछकर-आज्ञा लेकर साधु होना ।"

इस गाँव में जैनों के घर न होने से कोई जैन साधु न आता था । सब अन्यमतावलम्बी ही रहते थे । इस लिये यहाँ सद्गुरु का

योग न था । जो साधु-संत यहाँ आते थे, वे सद्‌गुरु की कोटि से बहुत पीछे थे ।

सद्‌गुरु की खोज में

बूटासिंह माता की आज्ञा लेकर सद्‌गुरु की खोज में अपने गाँव से एकाकी निकल पडा । जब कभी और कहीं पर उसे किसी भी मतमतांतर के साधु की खबर पडती, झट उसीके वहाँ जा पहुँचता । कई-कई दिनों और महीनों उनके सहवास में रहता, उनकी साधुचर्या को देखकर उसे संतोष न होता, और न ही उनका मत-सिद्धान्त ही रुचता । वह कभी सिक्ख गुरुओं के वहाँ जाता, कभी फकीरों के पास जाता, कभी नाथों (कानफटे योगियों) के वहाँ जाता, तो कभी संन्यासी साधुसंतों के वहाँ जाता, कभी जटाधारी बाबाओं के पास जाता, तो कभी धूनी रमाकर भभूति मलनेवालों की संगति में रहता । पर उसे कहीं भी संतोष न मिलता । बीच-बीच में अपने घर लौट आता और जिनकी संगत में वह महीनों-महीनों तक व्यतीत करके लौट आता था उन सब त्यागियों का वृत्तांत माताजी से कह सुनाता । माता को अपने इकलौते बेटे पर अपार स्नेह था । बेटे को आने-जाने के लिये जितने खर्चे की जरूरत होती, वह बिना रोक-टोक दे देती । बेटे को किसी भी प्रकार से दुःखी नहीं रखती थी । दूसरा इसका था भी कौन ? जो कुछ भी जमीन-सम्पत्ति थी, वह इसी लाल के लिये ही तो थी ।

बूटासिंह ने सारा पंजाब-राज्य छान मारा । जम्मु-काश्मीर की घाटियों का कोना-कोना देख डाला । काँगडा, कुल्लु की पहाडियों पर भी जहाँ कहीं उसे किसी साधु-संत का पता लगता, वहाँ चला जाता । जहाँ कहीं उसे फकीर, लिंगिये, नाथ, योगी की खबर

मिलती, तुरन्त वहाँ पहुँच जाता । कई-कई महीनों तक उनके सहवास में रहकर देखा, परन्तु कहीं भी संतोष नहीं मिला । कोई भाँग पीता था, तो कोई गाँजा या सुल्फा का दम लगाता था । कोई अफीम खाता था, तो कोई अन्य व्यसन-सेवन करता था । कोई मठधारी था, तो कोई धन-दौलत-जमीन का परिग्रहधारी था । किसी के भी चरित्र, आचार-व्यवहार तथा सिद्धांतों की छाप इस पर न पडी । इसी प्रकार गुरु की खोज में सात-आठ वर्ष बीत गये, चौबीस वर्ष की आयु हो गई ।

गुरु की खोज में जगह-जगह की खाक छानने के बाद, एकदा बूटासिंह को मुख पर पट्टी बाँधनेवाले साधुओं की संगत हुई । पता करने पर मालूम हुआ कि वे बाइसटोला (स्थानकमार्गी) जैनी नाम धरानेवाले साधु हैं । बडे साधु का नाम **नागरमल्लजी** था । बूटासिंह ने समझा कि यह साधु संसारतारक है । ऐसा निश्चय करके आपने अन्य सभी की संगत छोड दी । धीरे-धीरे आप का परिचय इनके साथ बढता गया । आप को ऐसा मालूम हुआ कि श्रीनागरमल्ल पढे-लिये और विद्वान हैं । जीतने भी साधु-सन्यासी देखे हैं, उनसे इनका त्याग भी विशेष मालूम होता है । आपने इनसे वीतराग की वाणी सुनी, पढने का अवसर तो मिला नहीं था । पुण्यानुबन्धी-पुण्य के बिना केवली-प्ररूपित धर्म सुनना दुर्लभ है, पालने की तो बाद की बात है । आप पर इनके चारित्र और सिद्धांत की गहरी छाप पडी । आप सोचने लगे कि "जिस की मुझे खोज थी वह गुरु मुझे मिल गया है । इनके सिद्धांत ही मुझे आत्म-कल्याणकारी मालूम होते हैं । इनके शास्त्रों को शनैः शनैः पढा जावेगा, तभी इनकी सत्यता-असत्यता का परिचय मिलेगा ।

इसकी गहराइयों में उतरने से ही वास्तविकता का पता लग सकेगा। इसका सम्पूर्ण बोध तो केवलज्ञान प्राप्त करने पर ही होगा। जो कि अन्तिम भव में ही संभव है। उपर से तो ये लोग ठीक ही मालूम देते हैं।" ऐसा निश्चय कर आप अपने गाँव को वापिस लौट गये। घर पहुँच कर अपनी माताजी को इन साधुओं की रूपरेखा कह सुनाई। माताजी ने बेटे को सहर्ष दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।

कई मनुष्यों को दरिद्र अवस्था होने से पूरा खाने-पीने को न मिलता हो, बहुत संतानें होने से उनका निर्वाह करने की शक्ति न हो, स्त्री सुन्दर होने पर भी क्लेश-कारिणी हो, सगे-सम्बन्धी अथवा मित्र की मृत्यु हो जाने पर अथवा महत्तावाली जगह में मानहानि हुई हो; ऐसे ऐसे अनेक कारणों के लिए दुःखगर्भित वैराग्य होता है और ऐसे वैराग्य द्वारा दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा होती है, परन्तु आपका वैराग्य ऐसा नहीं था। क्योंकि आपकी संसारी स्थिति बहुत अच्छी थी, बहुत बडी उपजाऊ धरती के मालिक थे। किसी प्रकार की कमी नहीं थी। स्त्री-संतान की उपाधि तो छू न पाई थी, और कोई दूसरा कारण भी ऐसा निष्पन्न नहीं हुआ था, जिससे दुःखगर्भित वैराग्य का कारण बना हो। माता का आप पर अनन्य स्नेह था, वह आपको एक क्षण के लिये भी अपनी आंखों से ओझल नहीं करना चाहती थी। आपके दिल में पूर्व के क्षयोपशम से तथा साधु-महात्मा की भविष्यवाणी को माता-पिता के मुख से सुनकर निरन्तर ऐसा विचार आया करता था कि संसारी अवस्था में भी जिनकी सेवा में षट्खंड के राजा-महाराजा हाजिर रहते थे और षट्खंड-राज्य के अधिकारी थे, उन चक्रवर्तियों ने भी जब संसार को असार मानकर राज, ऋद्धि, कुटुम्ब-परिवार आदि को छोडकर संन्यास

अंगीकार किया तब वह परमानन्द-सुख के भोक्ता बने । पर जो विषय-सुख में मगन रहकर क्षणिक सुख में धंस गये, राज्य आदि के सुखों को छोड नहीं सके, ऐसे लोग चक्रवर्ती आदि की समृद्धि पाकर भी मरकर नरक के अतितीव्र, दारुण और असह्य वेदनाओं को भोगनेवाले बने । चक्रवर्ती के सुख के सामने मेरे जैसे साधारण मनुष्य का सुख महासमुद्र में से एक बूंद के तुल्य भी तो नहीं है। ऐसा होते हुए भी इसमें मोह पाकर उसे छोड नहीं सकता, यह कैसी मूढता है ? इस संसार का स्वरूप इन्द्रजाल, बिजली की चमक, अथवा संध्या के जैसा अस्थिर, चपल एवं क्षणक्षायी है । दुःख, आधि, व्याधि, उपाधियाँ आया ही करते हैं। बूटासिंह के मनमें सदा ऐसी ही ऊर्मियाँ उठा करती थीं । आपका वैराग्य ज्ञानगर्भित और दृढ था। कोई भी सांसारिक प्रलोभन आपके वैराग्य को मिटा नहीं सकता था ।

स्थानकमार्गी साधु-दीक्षा

ऋषि नागरमल्लजी मलूकचन्दजी के टोले (आज्ञावर्ती समुदाय) के साधु कहलाते थे । इन की गुरु-परम्परा इस प्रकार थी। पूज्य ऋषि गोकलचन्दजी के शिष्य पूज्य मलूकचन्द ऋषिजी, इनके शिष्य ऋषि महासिंहजी, इनके शिष्य ऋषि नागरमल्लजी थे । ग्रामानुग्राम विहार करते हुए ऋषि नागरमल्लजी दिल्ली जा पहुँचे । श्रीबूटासिंहजी भी नागरमल्लजी के पास दिल्ली पहुँच गये । आप विक्रम संवत् १८८८ (ई० स० १८३१) को पच्चीस वर्ष की आयु में शुभ मुहूर्त में दीक्षा लेकर ऋषि नागरमल्लजी के शिष्य बने। नाम ऋषि बूटेरायजी रखा गया । आपने वि० सं० १८८८ का चौमासा ऋषि नागरमल्लजी के साथ दिल्ली में किया । इस चौमासे में ऋषि

नागरमल्लजी व्याख्यान में श्रीआचारांग सूत्र का वांचन करते थे । इसके समाप्त होने पर श्रीसूयगडांग सूत्र का वांचन करते थे । आपने इन दोनों सूत्रों को गुरुमुख से बडे ध्यानपूर्वक तन्मयता से सुना । इन सूत्रों को सुनने के बाद आपको ऐसा प्रतीत हुआ कि इन आगमों में बतलाये हुए जैनसाधु के आचार के साथ ऋषि नागरमल्लजी आदि इन स्थानकमार्गी साधुओं के स्वरूप का मेल नहीं खाता । इन दोनों में बहुत अन्तर है । पर आपको इसके भेद का कुछ समाधान न हो पाया । कारण यह था कि पंजाब में इस समय स्थानकमार्गी साधु (जो ढूंढियों के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा चैत्यवासी यति (पूज) दोनों प्रकार के ही जैन त्यागी साधु के नाम से विद्यमान थे । एक तरफ स्थानकमार्गी साधुओं के आचार, वेश आदि आगमानुकूल प्रतीत नहीं हुए, तो दूसरी तरफ यतियों के आचार-व्यवहार भी आगमों के प्रतिकूल प्रतीत हुए ।

आगमानुकूल चारित्र पालने की धून

ऋषि बूटेरायजी के सामने एक विकट समस्या थी । आप सोचने लगे कि ''ये आगमशास्त्र सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों का कर्ता कोई उत्कृष्ट चरित्रवान और उत्कृष्ट ज्ञानवान सत्-पुरुष है । इनके बतलाये हुए सिद्धातों के आराधक वर्तमान काल में कहां विचरते होंगे उनकी अवश्य खोज करनी चाहिए । जैन आगमों में तो कहा है कि श्रीमहावीर प्रभु का शासन इक्कीस हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा, इसलिये आगमानुकूल चारित्रधारी साधुओं का अभाव तो संभव नहीं है । अतः अब मुझे उनकी खोज कर अवश्य उनसे मिलना चाहिये ।'' आपके मन में ऐसी ईहा (इच्छा) हुई ।

इसी उधेडबुन में आपका मन व्याकुल हो उठा । पर फिर आपने यह सोचा कि "मुझ पर ऋषि नागरमल्लजी का उपकार है । यदि मैं इनकी संगत में न आया होता, तो मुझे वीतराग की वाणी सुनने का अवसर ही प्राप्त न होता, इसलिये मुझे उतावल नहीं करनी चाहिये, अभी इन्हीं के पास रहकर मुझे श्रवण-पठन-पाठन करना चाहिये । इसीसे मैं वास्तविकता को समझ सकूँगा ।" वि० सं० १८८९ का चतुर्मास भी आपने गुरूजी के साथ ही दिल्ली में किया । इस वर्ष दिल्ली में तेरापंथी साधुजी का भी चौमासा था । उन्हें देखकर आप को ऐसा प्रतीत हुआ कि "यह साधु क्रियापात्र है इसलिये मुझे इनके पास जाना चाहिये ।" पर आपके मन में फिर यही विचार आया कि "ऋषि नागरमल्लजी मेरे उपकारी गुरु हैं । इसलिए सहसा इनका साथ छोडना उचित नहीं । इनका तो गुण ले लेना चाहिये । यदि मैं तेरापंथी जीतमलजी के पास जाऊंगा तो क्या मालूम कि तेरापंथियों का आचार इनसे अच्छा है या बुरा ? कई बार ऐसा होता है कि ऊपर से उत्कृष्ट दिखलाई देने वाली वस्तु अन्दर से निस्सार होती है । इसलिए 'अतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' वाली बात मुझ पर चरितार्थ न हो जाये । कहा भी है कि 'उतावल सो बावला' । अतः तेरापंथियों का कुछ सामान्य परिचय जानने के बाद ही उनसे मिलना योग्य है ।" ऐसा सोचकर आप नागरमल्लजी के पास ही दो वर्ष तक दिल्ली में रहे । वि० सं० १८८९-१८९० (ई० स० १८३२-३३) इन दो वर्षों में आपने साधु के आचार-विचार-क्रियाओं आदि का अभ्यास किया । गुरुजी से आगमों का व्याख्यान सुनने का भी प्रतिदिन लाभ लेते रहे । आगमों को सुनने से जहाँ आप आगमों के प्रतिपादित जैन साधु के आचार के वर्णन

से चमत्कृत होते, वहाँ स्थानकमार्गी साधुओं के आचार को देखकर खेदखिन्न हो जाते । आपने इन वर्षों में थोकडों, बोल-विचारों का भी अभ्यास किया ।

अब तेरापंथियों को देखने के लिये आपने दिल्ली से अकेले ही विहार कर दिया । जोधपुर (राजस्थान) में तेरापंथी साधु जीतमलजी से जा मिले । वि० सं० १८९१ (ई० स० १८३४) का चौमासा आपने इन्हीं के साथ किया । तेरापंथी साधु की श्रद्धा धारण कर उनके आचार-विचार-क्रियाओं को देखा-समझा-अभ्यास किया और दृढता के साथ पालन भी किया । पर यहाँ से भी आपका मन हट गया । किन्तु स्थानकमार्गीयों की श्रद्धा इनसे अच्छी जानी । जोधपुर से चलकर आप मारवाड में आये । तेरापंथियों से जो चर्चा सुनी थी वह स्थानकमार्गी साधुओं के साथ की । उन चर्चाओं में आपने साधुमार्गियों के पंथ का खंडन किया । साधुमार्गियों ने तेरापंथी पंथ का खंडन किया । दोनों में से कौनसा सच्चा है और कौनसा झूठा है इसका निर्णय न हो पाया । ऐसा होते हुए भी आपकी श्रद्धा जैन सिद्धान्तों पर अडिग रही । आपको कभी ऐसा विचार आता कि, ''पूर्वभव में मैंने मुखबन्धे लिंग की आराधना की होगी, इसलिये इस कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।'' सच-झूठ को समझे बिना स्थानकमार्गी तथा तेरापंथी दोनों मुह पर मुखपट्टी-धारी मतों पर अपनी आस्था को टिकाये रखना पडा । परन्तु मन में यह हलचल तो सदा बनी ही रही कि ''वीतराग प्रभु के आगमों मे ३६३ मतमतांतर कहे हैं । इन में तो कोई जिनधर्मी है नहीं । वास्तव में जैनधर्म का पालन करनेवाले वर्तमान काल में कौन हैं ? इस बात का निर्णय तो जैन सूत्र, सिद्धान्त, आगम पढे बिना नहीं हो सकता । इनमें कोई मत तो सच्चा होगा ही, सब तो झूठे

नहीं होंगे ? इक्कीस हजार वर्षों तक श्रीवीतराग प्रभु का धर्म चालु रहना है। पर यहां पंजाब में तो कोई ऐसा मत दिखलाई नहीं देता[१]। मुझे शुद्ध वीतराग-मार्ग की प्राप्ति कैसे हो ?" अब आपने बडी लगन के साथ आगमों का अभ्यास शुरू कर दिया। जैसे-जैसे आप सूत्रों-आगमों को पढते गये और सुनते गये, वैसे-वैसे आपकी श्रद्धा सूत्रों-आगमों पर दृढ होती गई। आपने सोचा कि "स्थानकमार्गी तथा तेरापंथी दोनों सूत्रों के पाठ दिखलाते हैं और इन से अपने अपने मत की पुष्टि करते हैं, एक-दूसरे को मिथ्या बतलाते हैं। इनमें सच्चा कौन और झूठा कौन है ? इसका निर्णय तो तभी हो सकेगा जब मुझे स्वयं सूत्रों का ज्ञान होगा। अतः मुझे स्वयं सूत्रों का अभ्यास करना चाहिये। परन्तु पढना किसके पास ? गुरु बिना सूत्रों का अर्थ कौन पढावे ? इस लिए मुझे गुरु के पास रहना चाहिये। सूत्रों को पढे बिना गुरु-कुगुरु, सुदेव-कुदेव, सुधर्म-कुधर्म की परख संभव नहीं है। इन मत-मतांतरों में से किस की मान्यता सच्ची है और वीतराग की आज्ञा के अनुकूल है ? इसे निश्चय रूप से गुरू गौतम आदि गणधरदेव ही कह सकते हैं, परन्तु वे तो इस समय विद्यमान नहीं है। इसलिये इस समय तो जिन्होंने मुझे (मूंडा) दीक्षा दी है उन्हीं गुरु के पास मुझे जाना चाहिये।" तेरापंथियों के साथ जोधपुर में चौमासा करके आप

१. ऋषि बूटेरायजी के समय पंजाब में स्थानकमार्गी ऋषि तथा चैत्यवासी यति (पूज) ये दोनों ही जैनधर्म के त्यागीवर्ग में थे। परन्तु संवेगी (तपागच्छ आदि के श्वेताम्बर) साधु का विहार न होने के कारण उनके सामने आगमानुकूल समाचारी पालन करनेवाला साधु-साध्वी कोई न था।

शुद्ध सामाचारी पालन करनेवाला कोई भी साधु दृष्टिगोचर न होने से आपकी यह धारणा होने लगी कि आजकल आगमानुकूल कोई भी जैन साधु-साध्वी नहीं है।

वापिस दिल्ली में ऋषि नागरमल्लजी के पास लौट आये । उन्होंने आपको अपने साथ मिला तो लिया परन्तु मन से पढाया नहीं । इस विषय में आप कहते हैं कि ''मैं उनसे बिगाड कर तो गया नहीं था । परन्तु सत्य की खोज के लिए निकला था । जब तेरापंथियों के वहां भी सत्य की प्राप्ति न हुई तब गुरु के पास वापिस आना ही उचित समझा । मेरे गुरु प्रायः बीमार रहने लगे । मैंने उनकी तन-मन से खूब सेवा-भक्ति की । निष्कपट भाव से उन की आज्ञाओं का पालन भी किया, उनकी टट्टी-पेशाब (ठल्ला, मात्र)भी उठाये । जब चलने से अशक्त हो गये तक कंधो पर चढा कर भी लिये फिरा । उनकी सेवा-शुश्रूषा वैयावच्च करने में कभी न रखी । पर गण मन फटनेके बाद मिलने कठिन हैं । इसलिये उन्होंने मुझे मन से पढाया नहीं । दूसरे कारण उनके रोगी तथा वृद्धावस्था भी थे । मैंने उनकी टहल-सेवा करने में दिन-रात एक कर दिया, कोई कसर उठा न रखी । सेवा-शुश्रूषा, वैयावच्च के बाद जो समय मिल पाता उसमें पढता-लिखता । जब गुरुदेव सो जाते तब रात को बोल-विचार, थोकडों आदि की पुनरावृत्ति कर लेता । जब अवसर मिलता तब गुरुमहाराज से दशवैकालिक आदि सूत्रों का वांचन करता । बोल, विचार थोकडे आदि भी सीखता । गाथाए भी लिख लेता ।'' इस प्रकार तीन वर्ष व्यतीत हो गये । वि० सं० १८९२-९३ (ई० स० १८३५-३६) के चतुर्मास आपने गुरुजी के साथ दिल्ली में ही किये । वि०सं० १८९३ (ई० स० १८३६) को नागरमल्लजी का दिल्ली में देवलोक हो गया । देवलोक होते समय आपको गुरुजी ने अपने पास बुलाया और पांच हस्तलिखित शास्त्रों की प्रतियाँ देकर बोले - बेटा ! ''तुमने मेरी बडी सेवा की है । तुम सदा सुखी रहो,

धर्म का उद्योत करनेवाले बनो । तुम्हें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहेगी।'' आपने कहा – ''गुरुदेव ! आपश्री के आशीर्वाद से सब अच्छा होगा । आप मेरे पर कृपादृष्टि रखना । मेरे लिये आपकी जो आज्ञा हो वह फरमायें ।'' गुरुमहाराज ने कहा – ''तुम किसी मत–कदाग्रही का संग मत करना । जहां तेरे धर्म की पुष्टि–वृद्धि हो वहाँ रहना और वैसा ही करना । तुम को मेरी यही अन्तिम आज्ञा है ।'' फिर ऋषि नागरमल्लजी ने अपने बडे चेले हीरालाल को बुलाया और उसे अपने बाकी के सब पोथी–पन्ने देकर कहा कि ''मैंने बूटे को कुछ नहीं दिया । मेरे पास जो कुछ है वह सब तुम्हें दिये जा रहा हूँ ।'' ऐसा कह कर दिन के तीसरे पहर कालवश हो गये (स्वर्ग सिधार गये) ।

अब ऋषि बूटेरायजी कुछ समय दिल्ली में रहे । पश्चात् विहार कर पटियाला नगर में पधारे । यहाँ आपने बहुत तप किया । कडाके के जाडों में भी आप मात्र एक सूती चादर रखते थे । कभी नग्न होकर ध्यान लगाते । बेले–तेले से लगाकर पन्द्रह उपवास तक तप करते । एक, दो, तीन, चार आदि आयंबिल एकांतरे करते । वि० सं० १८९४ (ई० स० १८३७) का चौमासा पटियाला में किया । एक बार मालेरकोटला (पंजाब) में छह महीने का अभिग्रह किया । गोचरी के लिये मात्र एक पात्र ही रखते । घरों में जब सब लोग भोजन कर लेते उसके बाद दोपहर के लगभग एक बजे गोचरी जाते । घरों में जो कुछ बचा–खुचा आहार में मिलता सब उसी एक ही पात्र में ले लेते, उन सबको मिला लेते और दिन में मात्र एक बार ही आहार करते । आपके सब अभिग्रह निर्विघ्न सुखपूर्वक पूर्ण होते गये । दिन–रात आगमों के पठन, वांचन, मनन, चिन्तन, स्वाध्याय में ही तल्लीन रहने लगे । हस्तलिखित प्रतियाँ लिखने की

प्रवृत्ति भी चालू रखी। व्याख्यान आदि भी करते। विहार भी चालू रखते। गुरुदेव के आशीर्वाद से आपकी मान-प्रतिष्ठा भी दिन-प्रतिदिन बढने लगी। अच्छे घराने के दो चेले भी आप के हो गये। परन्तु एक बात तो आपको सदा खटकती ही रही कि आप सद्‌गुरु के बिना जैनधर्म के मर्म को न जान पाये। फिर भी आपने साहस को न छोडा। दिनरात आगमों के अभ्यास को बढाते चले गये। आगमों का अभ्यास करते हुए आपको ऐसा ज्ञात हो गया कि "जिन प्रतिमा को मानने के पाठ आगमों में विद्यमान है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि स्थानकमार्गी और तेरापंथी दोनों पंथ जिनमूर्ति की मान्यता का घोर विरोध करते हैं तथा कहते हैं कि जिनप्रतिमा मानना आगमानुकूल नहीं है। जिनप्रतिमा मानने में मिथ्यात्व है तथा इसके पूजन में हिंसा है। इस प्रकार जिनप्रतिमा की मान्यता का निषेध करते हुए अघाते ही नहीं हैं। जो हो।"

किन्तु आगमों के अभ्यास से जिनप्रतिमा मानने की आपको दृढ श्रद्धा होती गयी। पंजाब से विहार कर आप दिल्ली पधारे। इस वर्ष वि० सं० १८९५ (ई० स० १८३८) को स्थानकमार्गी ऋषि रामलालजी भी दिल्ली में थे। इन्होंने अमरसिंह नामक अमृतसर के एक ओसवाल भावडे को (जिसकी आयु ३३-३४ वर्ष की थी) दीक्षा दी। वि० सं० १८९५ का चौमासा आपने दिल्ली में ही किया। एकदा ऋषि रामलालजी बीमार पड गये, आप भी उनकी सुखसाता पूछने के लिये गये। रामलालजी भी मलूकचन्दजी के आज्ञानुवर्ती समुदाय के साधु थे। अपने मत के पंडित थे, बत्तीस सूत्रों के जानकार थे। एक दिन अमरसिंह किसी गृहस्थ से 'विपाकसूत्र' ले आया। उसने आपसे कहा - "बूटेरायजी! यह देखिये! विपाक

सूत्र अच्छा है न।'' आपके अभी तक विपाकसूत्र पढा नहीं था। आपने जब उस विपाकसूत्र के पन्नों को उलट-पलट कर पढा तो अकस्मात गौतम स्वामी के प्रसंगवाले पन्ने पर दृष्टि पडी। उसे पढने से ज्ञात हुआ कि ''जैन मुनि को मुख बाँध कर विचरणा योग्य नहीं है। क्योंकि गौतमस्वामी के मुख पर पट्टी बँधी हुई नहीं थी।'' वह पाठ आपने अमरसिंहजी को भी दिखलाया। ऋषि अमरसिंहजी ने कहा कि यह पाठ स्वामी रामलालजी को दिखाकर निर्णय करना चाहिये। आपने स्वामी रामलालजी को विपाकसूत्र का पाठ बतलाया। वह पाठ यह है —

तते णं से भगवं गोयमे मियादेविं पिट्ठओ समणुगच्छति। तते णं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी अणुकड्ढमाणी जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता चउप्पुडेणं वत्थेणं मुहं बंधमाणी भगवं गोतमं एवं वयासी - ''तुब्भे वि णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधह। तते णं भगवं गोतमे मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधेति। बंधइत्ता इत्यादि। (विपाकसूत्र-मृगापुत्र लोढा का अधिकार)

अर्थात् तब भगवान गौतमस्वामी मृगादेवी के पीछे पीछे चल पडे। तत्पश्चात् वह मृगादेवी काष्ठ की गाडी को खैंचती-खैंचती जहाँ भूमिघर (भोयरा) है वहाँ आती है। आकर चार पड के वस्त्र से अपना मुंह बाँधती है। फिर भगवन्त गौतमस्वामी से कहती है कि ''हे गुरुदेव ! आप भी मुहपत्ती से मुँह बाँधिये।'' मृगादेवी के ऐसा कहने पर (आपने भी) मुँहपत्ती से मुख को बाँधा। बाँध कर इत्यादि।

ऋषि बूटेरायजी ने ऋषि रामलालजी को यह पाठ दिखला कर कहा कि "महाराज ! यदि गौतमस्वामी ने पहले अपने मुख पर मुँहपत्ती बाँधी होती तो फिर इस समय मुँहपत्ती बाँधने को क्यों कहा ? जैन साधु के १४ उपकरणों में एक ही मुँहपत्ती कही है। आप की श्रद्धा तथा आचरण के अनुसार तो उनके मुँह पर पहले से ही मुँहपत्ती बँधी होनी चाहिये थी ?"

ऋषि रामलालजी ने कहा - "मुख तो बाँधने का कुछ काम नहीं था। वह तो पहले ही बँधा हुआ था। जिस रोगी मृगा लोढे को गौतमस्वामी देखने गये थे, उसके शरीर से बहुत दुर्गंध आती थी, इस लिये नाक को बाँधा था। क्योंकि दुर्गंध का विषय नाक का है। मुख का नहीं है[१]।"

ऋषि बूटेरायजी ने ऋषि रामलालजी से कहा - स्वामीजी ! आप के कहने से तो यह सिद्ध हुआ कि चार ज्ञान के धारक श्रीगौतमस्वामी ने साक्षात् तीर्थंकर महावीर प्रभु के मुख से सुनी हुई वाणी की सूत्रपाठ की रचना में भूल की है। बाँधा नाक था और कह गये मुख। यह प्रत्यक्ष-बाधित है। क्योंकि सुनी हुई वाणी को

---

१. जैन श्रावक-श्राविकाएं जिनप्रतिमा की पूजा करते समय जब आठ पड वाले वस्त्र को मुख पर बाँधते हैं, तब उससे नाक और मुख दोनों ढक जाते हैं। इस वस्त्र का नाम 'मुखकोश' है। अर्थात् मुख को ढाँकने का वस्त्र। इसी प्रकार यहाँ गौतमस्वामी ने भी मृगादेवी के कहने से दुर्गन्ध से बचने के लिये खुले मुँह और नाक को मुखपत्ती से बाँधा; यह स्पष्ट है।

पूजा करते समय श्रावक-श्राविकाओं के मुखकोश बाँधने का हेतु यह है कि पूजा करनेवाले का उच्छ्वास (सांस) एवं थूक श्रीजिनप्रतिमा पर न पडने पावे। मुखकोश बाँधने से कपडा मुख से सटता नहीं। नाक के उभार के कारण होठों से ऊँचा रहता है इसलिये होठों पर थूक भी नहीं जमता।

चार ज्ञान के धारक गणधरदेव जो गणधरलब्धि-सम्पन्न थे, वह सूत्र- रचना में भूल कर जावें ऐसा सर्वथा असंभव है। यदि मुख खुला था तभी तो मुख बाँधने को कहा। मुख बाँधा तो नाक भी साथ में ही बँध गया। यह बात भी स्पष्ट प्रतीत होती है।

अतः जब आगम के इस पाठ से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगौतम गणधर ने मुख पर मुँहपत्ती नहीं बाँधी थी, तो आप का पंथ किस आधार से मुख पर मुँहपत्ती बाँधने का आग्रह करता है? आप के पंथ के तथा तेरापंथी के साधु चौबीस घंटे डोरा डाल कर मुँहपत्ती बाँधे रहते हैं ऐसा क्यों?"

पाठ को देखकर ऋषि रामलालजी बोले - "बूटेरायजी! यदि साधु के मुख पर मुखपत्ती न बँधी हो तो वह साधु किस काम का? उसे साधु कहना ही नहीं चाहिये। वह तो पूजा (यति, गौरजी) हुआ।" ऐसी बात सुनकर आप विस्मित हो गये कि स्वामी रामलालजी ने सूत्रानुसारी उत्तर न देकर अपनी मति-कल्पना से बात की है। जो कुछ आपने गुरु की सेवाभक्ति की थी उसके प्रभाव से रात्रि को तत्काल स्वप्न में तथा सिद्धान्त देखने पर देव-गुरु की कृपा से इस बात का आप को निश्चय हो गया कि **मुख पर मुँहपत्ती बाँधना आगम सम्मत नहीं है**। फिर भी आप इस बात का निर्णय किसी गीतार्थ आगमवेत्ता मुनिराज से कराने के लिये उत्सुक रहे। आपने निर्णय किया कि - "मैं किसी निष्पक्ष आगमवेत्ता से निर्णय करूंगा और जो सत्य वस्तु होगी उसे ग्रहण करूंगा।" ऋषि अमरसिंहजी की दीक्षा के छह मास बाद ऋषि रामलालजी का दिल्ली में देहान्त हो गया। वि० सं० १८९५ (ई० सं० १८३८) का चौमासा दिल्ली में करके आपने पंजाब की तरफ

विहार किया। पटियाला नगर में पधारे। वहाँ वि० सं० १८९६ (ई० सं० १८३९) का चौमासा करके अमृतसर पधारे । वहाँ से स्यालकोट, जम्मू, रावलपिंडी आदि नगरों में विचरते हुए आप गुजरांवाला पधारे और वि० सं० १८९७ (ई० स० १८४०) का चौमासा गुजरांवाला में किया । चौमासे उठे आप पटियाला में पधारे। रास्ते में आपको ऋषि अमरसिंहजी भी आ मिले। आपसे कहने लगे कि "बूटेरायजी ! मैं और आप इकट्ठे विचरेंगे। मेरा और आपका टोला एक ही है ।" अब ऋषि बूटेरायजी और ऋषि अमरसिंहजी दोनों साथ में विहार करते हुए अमृतसर पधारे। ऋषि अमरसिंहजी आप की तपस्या में वैयावच्च अच्छी तरह करने लगे।

ऋषि बूटेरायजी की तपस्या तो सदा चालू ही रहती थी । बेला, तेला, पचोला, पंद्रह उपवास तो मामूली बात थी । बीच-बीच में एकांतरे में आयंबिल आदि का तप भी चालू रहता था। पारणे के दिन मात्र एक ही बार गोचरी जाना और एक ही पात्र में जो कुछ मिल जाता उससे दिन में मात्र एक बार ही आहार कर लेते । पारणा और आहार सब एक साथ ही हो जाता था । अभिग्रह भी बहुत करते थे और वे सब पूरे हो जाते थे। कडकती सर्दी में भी मात्र एक ही सूती चादर में रहते थे। कभी-कभी वह भी उतार कर ध्यान करते थे। आपकी ऋषि अमरसिंहजी के साथ प्रायः धर्मचर्चा भी होती रहती थी। वह आपके सामने निरुत्तर हो जाते थे।

जब ऋषि अमरसिंहजी को यह निश्चय मालूम हो गया कि पूज्य बूटेरायजी की श्रद्धा जिनप्रतिमा को मानने की है तथा मुखपत्ती को मुख पर बाँधने की नहीं है । तब उन्होंने आपकी

वैयावच्च छोड दी और आपसे जुदा होकर अन्यत्र विहार कर गये। तथा सब जगह आपके विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार शुरू कर दिया कि ''बूटेराय की श्रद्धा खोटी है, उसकी जिनप्रतिमा मानने की और मुँहपत्ती को मुख पर न बाँधने की श्रद्धा हो गई है।'' कहने लगे कि ''हमारे पूर्वज ऋषि हरिदास, ऋषि मलूकचन्द आदि आचार्य हो गये हैं, जिन्होंने वीतराग का धर्म विच्छेद हो जाने पर चारित्र अंगीकार करके पुनः वीतराग का धर्म प्रगट किया[1]। ऐसे महापुरुषों को बूटेराय निह्नव, अन्यलिंगी[2], पाखंडी कहता है। मैंने इसकी ये

१ स्थानकमार्गी मानते हैं कि ''जिनप्रतिमा का विरोध करके और चौबीस घंटे दिन-रात सदा मुख पर मुँहपत्ती बाँधे रखने के सिद्धांत को चालू कर लवजी नामक ऋषिने सूरत (गुजरात) में वि० सं० १७०९ (ई० स० १६५२) में यह मत निकाला और नवीत पंथ की स्थापना कर पुनः वीतराग धर्म को प्रकट किया।''

२ तुलना के लिये देखिये - ''श्रीमद् आचार्य अमरसिंहजी महाराज का जीवन चरित्र''।

[स्थानकमार्गी उपाध्याय आत्माराम (स्थानकमार्गियों के आचार्यसम्राट आत्माराम)जी कृत]

उस काल में ही अमृतसर में श्रीस्वामी नागरमल्लजी महाराज का एक शिष्य बूटेरायजी नामक था, जिसनें वहाँ पर तप करना आरम्भ कर रखा था। किन्तु उपवासादिक तप करते हुए परिणामों में शिथिलता बढ गई थी। अपितु श्रीपूज्य-महाराज (अमरसिंह) बूटेरायजी के मन के भाव न जानते हुए तप कर्म में सहायक हुए। किन्तु पाप कर्म कब तक गुप्त रह सकता है। इस कहावत के अनुसार अन्यदा समय बूटेरायजी श्रीमहाराजजी से कहने लगे कि हे अमरसिंहजी ! आजकल तो साधुपथ का ही व्यवच्छेद हो गया है। श्रीमहाराजने कहा बूटेरायजी ! श्रीभगवतीसूत्र में लिखा है कि पंचमकाल के अन्त तक भी चतुर श्रीसंघ रहेगा। आप अपने मन को मिथ्यात्व में क्यों प्रवेश कराते हो तथा हमारे चारित्र आदि को भी देखिए (कि साधुपथ है अथवा नहीं)।

मुखपत्तीचर्चा नामक पुस्तक में भी पूज्य बूटेरायजी लिखते हैं कि अभी जैन सिद्धान्त में कहे मुजब कोई साधु हमारे देखने में नहीं आया। (पृष्ठ ...., ...)।

दोनों श्रद्धाएं छुडवा देनी हैं। यदि यह अपना हठ नहीं छोडेगा तो मैं उसका वेष उतरवा लूंगा।" इस प्रकार उसने आपके विरुद्ध जोर-शोर से सर्वत्र प्रचार शुरू कर दिया। खूब खैंचातान बढ गई।

इस विषय में आपने स्वलिखित मुखपत्तीचर्चा नामक पुस्तक में वर्णन किया है कि – "वह (अमरसिंह) मेरी सर्वत्र निन्दा करने लगा, ऐसा मैने अनेक लोगों के मुख से सुना है (जिन के पास उसने मेरी निन्दा की है)। परन्तु वह मेरे से दीक्षा में छोटा है और टोले की अपेक्षा से वह मुझे कई बार मिलता भी रहता है, मेरे साथ विचरता भी है, चर्चा-वार्ता भी होती रहती है। परन्तु मैंने उसे कभी भी अविनय का वचन बोला नहीं और न ही कभी उसने मुझसे अविनय का शब्द बोला है। अपनी-अपनी दृष्टि अनुसार सब जीवों की श्रद्धा होती है। साधारण बात भी रागद्वेष वश बढा-चढाकर की जा सकती है। एक-दूसरे के पास जाने से बात का बतंगड भी बन जाना संभव है। ऐसा जानकर जो बात दूसरे के मुँह से जानी जावे, वह सच्ची ही है, ऐसा एकान्त मान लेना उचित नहीं है। यदि कोई राग-द्वेष से रहित होकर सच्चा पुरुष कहे, तभी उसकी बात को सच्ची माननी चाहिये। नहीं तो केवली महाराज जाने। इस काल में बहुत लोग एक-दूसरे को भडकाने और भिडाने के लिए उल्टी-सीधी बहुत बातें करते हैं। लोगों की बातें सुनकर ज्ञानी जीव को किसी के साथ राग-द्वेष करना उचित नहीं है। यदि कोई प्रत्यक्ष में अवर्णवाद बोले, तो भी वीतराग की आज्ञा ऐसी है कि उस समय भी समता भाव रखा जावे। सर्व जीवों के हित की वांछा करे। कर्मों के वशीभूत होकर जीव क्या-क्या कर्म नहीं करता ? अपितु आवेशपूर्ण जीव को उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता। जब

उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होगी तब वह स्वयं ही अपनी भूलों के लिये पश्चात्ताप करेगा । वीतराग के सिद्धान्त की बातें बहुत मार्मिक हैं । मेरे जैसा अल्पज्ञ उन्हें कहाँ तक लिखे । उनके सिद्धान्त बडी गंभीरता से मनन करने योग्य हैं । ज्ञान बिना समझना कठिन है ।''

सद्धर्म की प्ररूपणा के लिये अवसर की प्रतीक्षा

धीरे-धीरे ऋषि अमरसिंहजी बहुत निन्दा करने लगे । आप चर्चा के बाद अमृतसर से लाहौर की तरफ विहार कर गये । आपने सोचा कि ''मेरी श्रद्धा तो सच्ची है और आगमानुकूल है । पर इस पंजाब में न तो मेरा कोई संगी-साथी है और न ही कोई मेरे विचारों का समर्थक है । ऐसा होते हुए भी मुझे वीतराग केवली प्रभु के आगम-विरुद्ध खोटी श्रद्धा रखना तथा उसकी प्ररूपणा करना कदापि उचित नहीं है । पर मेरे सामने विकट समस्या यह है कि यदि मैं इनके साथ वाद-विवाद में उलझ गया तो मेरे अकेले की इन लोगों के सामने दाल न गलेगी । मेरा पंजाब में विचरना, धर्म-संयम का पालन करना भी दूभर हो जाएगा । पूज (यति) तो क्रिया और आचार हीन है । जैसे पंजाब में यति क्रिया और आचार हीन हैं, वैसे ही सब जगह होंगे ! पंजाब में तो आजकल मैंने कोई साधु जैन सिद्धान्तानुसार चलनेवाला देखा नहीं और न सुना ही है । यदि मैं खुल्लमखुल्ला जिनप्रतिमा को मानने तथा मुखपत्ती को मुख पर न बाँधने की प्ररूपणा करने लग जाऊंगा तो कोई मेरे पास आवेगा भी नहीं । इसलिये मुझे बडे धैर्य के साथ अपने आपको संभालते हुए और अपनी श्रद्धा का त्याग न करते हुए इसी वेष में रह कर संयम-यात्रा का निर्वाह करना चाहिये । कुछ समय की प्रतीक्षा और करनी चाहिये ।''

जैसे जैसे आप शांत रहते रहे, वैसे वैसे ही ऋषि अमरसिंहजी ने आपके विरोध में बडे वेग से प्रचार शुरू कर दिया। वि० सं० १८९८ (ई० स० १८४१) का चौमासा आपने गुजरांवाला में किया। अभी तक आप चर्चा के विषय में मौन ही रहे। ऋषि अमरसिंहजी भी विहार करते हुए पसरूर मे चले आये। पसरूर गुजरांवाला से पूर्व दिशा की तरफ लगभग बीस मील की दूरी पर था। वहां गुजरांवाला के श्रावक लाला गंडामलजी अमरसिंहजी के पास आये। उनसे अमरसिंहजी ने पूछा कि "लालाजी तुम्हारे शहर में किसका चौमासा है ?" उन्होंने कहा कि "ऋषि बूटेरायजी का चौमासा है।" फिर अमरसिंहजी ने पूछा कि "बूटेरायजी साधु कैसा है ?" लाला गंडामल ने कहा "अच्छा साधु है, क्रियापात्र है और आगम का जानकार विद्वान भी है। बहुत ही अच्छा साधु है।" अमरसिंहजी ने कहा कि "भाई ! क्या तुम्हें इस बात की खबर है कि इसकी श्रद्धा महाखोटी है। प्रतिमा को पूजने की श्रद्धा है और मुहपत्ती बाँधने की श्रद्धा नहीं है। वह कहता है कि जो मुखपत्ती बाँधते हैं वे पाखंडी हैं, निन्हव हैं, अन्यलिंगी हैं।" भाई ने कहा – "हमें तो इस बात की कोई खबर नहीं है। मैं भी प्रतिदिन कथा सुनने जाता हूँ, सामायिक-प्रतिक्रमण भी करता हूँ। परन्तु उन्होंने तो कभी भी इस विषय की चर्चा नहीं की। न तो मैंने उनके मुख से कभी ऐसा सुना है और न ही किसी दूसरे ने सुना है। यदि कोई ऐसी बात होती तो छिपी थोडे ही रहती। गुजरांवाला में तो इस विषय की कोई चर्चा ही नहीं है। अब मैं जाकर उनसे पूछूंगा।"

गंडामल ने गुजरांवाला में आकर आपसे पूछा कि "महाराजजी ! स्वामी अमरसिंहजी ने मुझे पूछा है कि आपकी

श्रद्धा जिनप्रतिमा पूजने के पक्ष की है तथा मुँहपत्ती बाँधने के विरुद्ध है । क्या यह बात सच है ?" आपने विचार किया कि "यदि मैं झूठ बोलता हूं तो मेरे महाव्रतों का खंडन होता है । महाव्रतों के खंडित हो जाने से मेरे पल्ले कुछ भी न रह पायेगा ।" ऐसा सोचकर आपने कहा कि – "भाई ! यह बात सर्वथा सत्य है, परन्तु मैं इसकी प्ररूपणा इसलिये नहीं करता कि इस कलिकाल में प्रायः लोग दृष्टिरागी और कदाग्रही हैं । आत्मार्थी जीव तो कोई विरले ही होते हैं ।" यह सुनकर लाला गंडामल ने कहा – "चौमासा उठे बाद ऋषि अमरसिंहजी यहाँ आपके साथ चर्चा करने आवेंगे ।" ऐसा बोलकर भाई चला गया । आपका मन उधेड-बुन में पड गया । "अब क्या करना चाहिये ? अमरसिंहने तो मेरे पर धावा बोल दिया है । अब डरने अथवा मैदान छोड कर भागने से कोई लाभ न होगा । एकदिन तो सत्यमार्ग की प्ररूपणा शुरु करनी ही होगी । जो केवली भगवान ने अपने ज्ञान में देखा है वही होगा । इस समय सारे पंजाब में मेरा कोई भी सहयोगी अथवा अनुयायी नहीं है । मैं अकेला ही हूँ । यदि मेरी श्रीवीतराग प्रभु के मार्ग पर सच्ची श्रद्धा है, तो शासनदेव मेरे अवश्य सहायक होंगे । सत्य की सदा विजय होती है, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है । डरने या भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है । अब मुझे निर्भय होकर दृढतापूर्वक सच्चे मार्ग की प्ररूपणा शुरू कर देनी चाहिये । जो होगा सो देखा जायेगा ।"

सत्य-प्ररूपणा की और

आपने सोचा कि "जो भाई मेरे रागी हैं, श्रद्धालु हैं, मुझे उनके मन को टटोलना चाहिये, परखना चाहिये । कल सुबह जो भाई मेरे पास आवेंगे, उनसे मैं पूछूंगा कि "भाइयो ! क्या आप लोगों को

वीतराग केवली भगवन्तों के शुद्ध पवित्र मार्ग को अपनाने की आवश्यकता है या अपने माने हुए पर दृष्टिराग अथवा कदाग्रह को ?" जब प्रातःकाल भाई आपके पास आये तो आपने पूछा – "भाइयो ! आप लोगों को श्रीवीतराग केवली प्रभु का धर्म चाहिये अथवा अपने माने हुए पर दृष्टिराग ? क्या आपने वीतराग केवली भगवन्तों की प्ररूपणा के विरुद्ध और स्वकपोल-कल्पित मार्ग अपनाये रखना है ? अथवा उनके द्वारा प्ररूपित सत्यमार्ग ?"

सबने एक स्वर से कहा कि "हमें किसी का कुछ देना नहीं है । न तो हमें दृष्टिराग है और न पक्षपात । न कदाग्रह है और न हठाग्रह । हमें तो वीतराग केवली भगवन्तों के सच्चे मार्ग को स्वीकार करने में प्रसन्नता है । हम तो आज तक यही समझ रहे हैं कि जिस मार्ग को हमने अपनाया हुआ है, जिस मार्ग का आचरण हम कर रहे हैं, वही सच्चा मार्ग है । फिर भी यदि इसमें हमारी भूल है तो आप बतलाइये । हमने तो आज तक आप लोगों (स्थानकमार्गी साधुओं) के द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर ही अटल श्रद्धा रखी है और उसी के अनुसार ही आचरण करते चले आ रहे हैं ।" यह सुनकर आपने अपने विचार सब भाइयों से कह सुनाये । आपने कहा कि "मेरी श्रद्धा जिन-प्रतिमा मानने की तथा मुखपत्ती मुख पर न बाँधने की पक्की है । क्योंकि श्रीवीतराग केवली भगवन्तों ने जैनागमों में ऐसा ही फरमाया है ।" भाइयों ने कहा – "गुरुदेव ! आप यह क्या कह रहे हैं ! हम और हमारे पुरखा जिस बाइसटोला (स्थानकमार्गी) मत को मानते चले आ रहे हैं, यह इन दोनों बातों को मानता नहीं है । इस टोले के साधु सदा यही कहते आ रहे हैं कि जिन-प्रतिमा पूजन में मिथ्यात्व है, हिंसा है । आगमों

में जिन–प्रतिमा के पूजन का कोई संकेत भी नहीं मिलता तथा मुँह पर मुँहपत्ती न बाँधना भी आगमविरुद्ध तथा हिंसामूलक है। दान देने में, और साधर्मीवात्सल्य आदि में भी धर्म नहीं है। आपकी ऐसी श्रद्धा सुनकर हमें आश्चर्य होता है ! सच–झूठ का निर्णय कौन करे ?" आपने कहा कि "अमरसिंह यहाँ आनेवाला है। उसने इस विषय पर मेरे साथ चर्चा करनी है। उसके यहाँ आने से पहले तुम लोग मेरे साथ चर्चा कर लो कि मेरी श्रद्धा ठीक है या नहीं। आप लोगों में बत्तीस सूत्रों[१] के जानकार विद्वान श्रावक भी मौजूद हैं। थोकडों, बोल–विचारों को भी समझनेवाले शास्त्री विद्यमान हैं। जिससे आप लोग वस्तुस्थिति को समझ लें।" सब श्रावकों ने एक स्वर से कहा – "गुरुदेव ! यदि ऐसा ही है तो यहाँ के संघ में लाला धर्मयशजी दुग्गड के सुपुत्र लाला कर्मचन्दजी बत्तीस सूत्रों के पंडित है, वह थोकडों, बोल–विचारों के भी मर्मज्ञ विद्वान है, बहुत ही सरल प्रकृति और सौम्य स्वभाव के हैं। वह मात्र शास्त्रज्ञ ही नहीं है, परन्तु संयम–शीलवान तथा क्रियापात्र और दृढधर्मी भी है। इनके साथ हमारे संघ में लाला निहालचन्दजी बरड के सुपुत्र लाला गुलाबराय भी अच्छे जानकार हैं। इन दोनों के साथ आप चर्चा कर लीजिये। अन्य भाई भी थोडे–बहुत जानकार हैं। सब चर्चा में मौजूद रहेंगे। यदि ये दोनों भाई आप की श्रद्धा को ठीक मान लेंगे तो हम भी मान लेंगे। सकल संघ ने इस बात की एक मत से स्वीकृति दे दी। लाला कर्मचन्दजी दुग्गड शास्त्री के साथ सकल संघ की

१ पंजाब में स्थानकमार्गी उस समय अपने आपको ढूंढिया कहने में गौरव समझते थे। इस लिये ये ढूंढिया के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग मात्र बत्तीस आगम ही मानते हैं।

उपस्थिति में पाँच-छह दिनों तक इस विषय पर खूब चर्चा चलती रही । इस चर्चा में सबने बडा रस लिया । लाला कर्मचन्दजी आपकी दोनों बातों से सहमत हो गये । इनके साथ दो-चार परिवारों को छोड कर सब संघ ने आपकी श्रद्धा को जैन आगमानुकूल सच्ची मानकर स्वीकार कर लिया । पंजाब में सर्व प्रथम इस चर्चा की समाप्ति पर वि० सं० १८९८ (ई० स० १८४१) में अपने पिता लाला धर्मयशजी दुग्गड के साथ लाला कर्मचन्दजी शास्त्री ने अपने साथ दो सगे छोटे भाइयों (लाला मथुरादासजी और लाला गंडामलजी) के परिवारों के साथ वीतराग केवली भगवन्तों द्वारा प्ररूपित शुद्ध सनातन मूर्तिपूजक श्वेतांबर जैन धर्म को स्वीकार कर लिया । लाला कर्मचन्दजी के स्नेही मित्र लाला गुलाबरायजी बरड तथा इनके छोटे भाई लाला लद्धामलजी ने भी अपने-अपने परिवारों के साथ आप की श्रद्धा को स्वीकार कर लिया । फिर क्या था ? दो-चार परिवारों को छोडकर सबने आप (बूटेरायजी) की श्रद्धा को स्वीकार कर लिया । यही ऋषि बूटेरायजी हमारे चरित्र-नायक हैं ।

कुछ दिनों के बाद ऋषि अमरसिंहजी भी अपने तीन साधुओं के साथ गुजरांवाला में आ पहुँचे । उनके पास श्रावक भाई गये । लाला गुलाबराय बरड भी अपने छोटे भाई लाला लद्धामलजी के साथ गये । उनसे ऋषि अमरसिंहजी बोले- ''भाइयो ! बूटेराय की महाखोटी श्रद्धा है, वह स्वयं भी डूबेगा और तुम लोगों को भी ले डूबेगा । प्रतिमा पूजने की और मुँहपत्ती न बाँधने की उसकी श्रद्धा है । मुँहपत्ती बाँधनेवालों को अन्यलिंगी-कुलिंगी तथा जिनप्रतिमा के विरोधियों को पाखंडी और निन्हव कहता है । इस प्रकार हमारे पंथ

को स्वकपोल-कल्पित और मिथ्यादृष्टि कहता है। इसलिये इस का संग मत करना। इसके चंगुल में न फँस जाना। यह तो पहले मिथ्यात्व-गुणस्थान का धनी हैं। इस का वेष छीन लो और अपने नगर से निकाल बाहर कर दो।"

यह सुनकर सेठ गुलाबरायजी बरड से न रहा गया और वह बोले - "स्वामीजी! आप तो अपने आपको आत्मार्थी मानते हो न! कुछ तो सोच-विचार कर बोलो। भाषासमिति का पालन तो करो। हम लोगों को पूज्य बूटेरायजी ने आगमों के प्रमाण दिखला दिये हैं, इस लिये हमें उनकी श्रद्धा पर तो संशय नहीं है। आपके कहने से पूज्य बूटेरायजी मिथ्यादृष्टि नहीं हो जावेंगे। आप पूज्य बूटेरायजी को पहले गुणठाणे कहते हो, कुछ तो विचार करके बोलो। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि आप पूज्य बूटेरायजी से भी हेठे (निकृष्ट) हैं। यदि बूटेरायजी मिथ्यादृष्टि हैं, तो तुम उससे भी नीचे के गुणठाणे में हो। पर मिथ्यात्व-गुणठाणे से नीचे कोई गुणठाणा है नहीं, इस लिये तुम्हारी गिनती किस गुणठाणे में की जावे ? तुम खुद ही बतलाओ।" इस प्रकार चौदह-पंद्रह दिनों तक ऋषि अमरसिंहजी ने इन श्रावकों के साथ चर्चा की। एडी से चोटी तक जोर लगाया, पर उनकी एक न चली। श्रावक भाइयों ने कहा कि "यदि हिम्मत हो तो हमारे सामने पूज्य बूटेरायजी के साथ चर्चा करो, पर शर्त यह होगी कि यदि चर्चा से आप अपने पक्ष की सच्चाई सिद्ध न कर सके तो आपको पूज्य बूटेरायजी की श्रद्धा स्वीकार करनी पडेगी।" ऋषि अमरसिंहजी लाचार होकर गुजरांवाला से विहार कर गये और यहाँ से पाँच मील पश्चिम की ओर पपनाखा नामक गाँव में गये। वहाँ से किला-दीदारसिंह में

गये । और वहाँ से रामनगर में गये । सब जगह "पूज्य बूटेरायजी की श्रद्धा महाखोटी है, उसकी संगत मत करना, यदि तुम्हारे नगर में आवे तो उसका साधुवेष छीन लेना और उसे नंगा करके भगा देना ।" ऐसा प्रचार करते हुए वहाँ से अपने श्रावक भाईयों को ढूंढकपंथ में दृढ करके स्यालकोट में जाकर चौमासा किया । बाद में आपने भी पपनाखे को विहार किया । वहाँ पहुँचने पर वहाँ के भाइयों ने भी आपके साथ चर्चा की और सब परिवारों ने आपके श्रद्धान को स्वीकार कर लिया । वहाँ से दक्षिण की ओर दो-तीन मील की दूरी पर किला-दीदारसिंह नामक गाँव में गये । वहाँ के भाईयोंने भी आपके साथ चर्चा की और आपकी बात को सत्य समझ कर स्वीकार कर लिया । वहाँ से लगभग बीस-पच्चीस मील पश्चिम की ओर रामनगर में गये और वि० सं० १८९९ (ई० स० १८४२) का चौमासा रामनगर में किया । यहाँ लाला मानकचन्दजी[१] गद्दिया हकीम (वैद्य) जैन आगमों के अच्छे

१ लाला मानकचन्दजी गद्दिये का परिचय :- आप बीसा ओसवाल (भावडा) गद्दिया गोत्रीय थे । आपके पुरखा घोडावाली रावलपिंडी के रहनेवाले थे । जटमल तत्पुत्र जीवनलाल तत्पुत्र पंजुशाह अपने परिवार को साथ लेकर रावलपिंडी से रामनगर चला आया । इसके चार बेटे थे- १-सहजराम, २-जवाहरमल, ३-रतनचन्द, ४-गुलाबचन्द । सहजराम के दो बेटे थे- १-घनैयालाल, २-रामकौर । रामकौर के चार बेटे थे- १-उष्णाकराय, २-भीमसेन, ३-अर्जुनदास, ४-मानकचन्द । यह मानकचन्दजी रामनगर में हकीम (चिकित्सक) थे । इन्हीं के साथ ऋषि बूटेरायजी की चर्चा हुई । जिसके परिणाम-स्वरूप रामनगर के सब जैन परिवारों ने शुद्ध श्वेताम्बर जैनधर्म को स्वीकार कर लिया । लाला जवाहरमलजी के दो पुत्र थे । १-राजकौर, २-धर्मयश । धर्मयश के चार बेटे थे- १-लालचन्द, २-मुसद्दीलाल, ३-हेमराज, ४-कृपाराम । शाह कृपारामजी ने पूज्य बूटेरायजी के पास वि० सं० १९०८ (ई० स० १८५१) में दिल्ली में दीक्षा ग्रहण की । तब आपका नाम श्रीवृद्धिचन्दजी

जानकार थे। पूज्य बूटेरायजी ने यहाँ के भाइयों से भी अपनी श्रद्धा के विषय में प्रकाश डाला और गुजरांवाला, पपनाखा, गोदलाँवाला, किला–दीदारसिंह के भाइयों के साथ इस विषय की चर्चा के पश्चात् उनकी जिन–प्रतिमा–पूजन तथा मुख पर मुँहपत्ती न बाँधने की श्रद्धा को स्वीकार करने की बात कही। यहाँ के भाई बोले कि "स्वामीजी ! यदि लाला मानकचन्दजी गद्दिया हकीम आपकी श्रद्धा को प्रमाणिक मान लेंगे, तो हम भी सभी आप की बात को स्वीकार कर लेंगे। हकीमजी बुद्धिमान है, शास्त्रों के जानकार हैं, उनके साथ चर्चा कर लो।" अब लाला मानकचन्दजी के साथ आपकी चर्चा होने लगी। बहुत दिनों तक चर्चा चलती रही। अन्त में हकीमजी ने भी प्रतिबोध पाया। परिणाम–स्वरूप यहाँ के सब जैन परिवारों ने भी आपके श्रद्धान को स्वीकार कर लिया।

इसी चौमासे में रामनगर का भाई दिलबागराय अपने ससुराल स्यालकोट में गया। वहाँ उससे ऋषि अमरसिंहजी तथा भाई सौदागरमल (यह बत्तीस सूत्रों का जानकार गृहस्थी था) इन दोनों ने कहा कि "तुम चौमासे उठे बूटेरायजी को और रामनगर के भाइयों को साथ लेकर स्यालकोट में आना। हमारे साथ चर्चा करने से तुम्हारी श्रद्धा बूटेरायजी पर से इस प्रकार उड जायेगी जैसे चावलों पर से उतरी हुई फक्क (छिलके) वायु के वेग से उड जाती है।" तब

हुआ। लाला गुलाबचन्द का पुत्र अमीरचन्द। अमीरचन्द के चार पुत्र– १–जयदयाल, २–मैयादास, ३–खुशालचन्द, ४–गंगाराम। खुशालचन्द का बेटा परमानन्द। इसने संवेगी तपागच्छ जैनसाधु की दीक्षा ली। नाम उमंगविजय रखा गया। बाद में आचार्य पदवी पाकर विजयउमंगसूरि बने। आप श्रीविजयवल्लभसूरिजी के प्रथम शिष्य श्रीविवेकविजयजी के शिष्य थे। आपका स्वर्गवास अहमदाबाद में हुआ।

दिलबागराय बोला "भाईसाहब ! हमारी फक्क (धान के छिलके) रूप मिथ्या श्रद्धा तो एकदम ऊड गई है । अब तो हमारे शुद्ध चावल के समान श्रीवीतराग केवली भगवन्तों के आगम-सम्मत जिन-प्रतिमा-पूजन करने तथा मुखपत्ती मुख पर न बाँधने का शुद्ध श्रद्धान है । यदि आप लोगों को फक्क उडानी है और शुद्ध चावल प्राप्त करने हैं, तो आ जाओं पूज्य बूटेरायजी की शरण में और उनके सत्यमार्ग को अपनाओ, आगे तुम्हारी इच्छा ।" इत्यादि परस्पर खूब खैंचातान बढ गयी । फिर वहाँ के भाइयों ने कहा कि चौमासे उठे बूटेरायजी को साथ लेकर एक बार यहाँ आ जाओ । उस समय ऋषि अमरसिंहजी भी यहीं होंगे । तब जो चर्चा होगी और उसके परिणामस्वरूप जो बात सच्ची होगी वह मान ली जायेगी । ये लोग ऊपर से तो ऐसी मीठी बातें करते रहे, पर इनके मन में कपट था । स्यालकोट में चर्चा करनी निश्चित् हो गयी । चौमासा उठते ही रामनगर के कुछ भाइयों के साथ आप स्यालकोट गये और चर्चा प्रारम्भ हो गई ।

मुखपत्ती-चर्चा

चर्चा का विषय था - १ "क्या मुखपत्ती को मुँह पर बाँधना आगम-सम्मत है और न बाँधने से हिंसा होती है अथवा नहीं ? २-जिन-प्रतिमा तीर्थंकरदेव की मूर्ति है और उसकी तीर्थंकर के समान वन्दना-पूजा करना जैनागम-सम्मत है अथवा नहीं ?"

ऋषि अमरसिंहजी - प्रभु महावीर के साधु-साध्वी अपने मुख पर मुँहपत्ती बाँधते थे, उसका प्रमाण श्रीविपाकसूत्र में प्रथम गणधरदेव श्रीगौतमस्वामी का विद्यमान है । इस लिये हम लोग भी

ऐसा करते हैं। और मुखपत्ती मुख पर न बाँधने से वायुकाय जीवों की हिंसा होती है। पंचमांग श्रीभगवतीसूत्र के शतक १६ उद्देश २ में शक्रेन्द्र के प्रसंग में खुले मुँह बोलने से भगवान् महावीर ने उसकी भाषा को सावद्य कहा है। सावद्य शब्द का अर्थ है हिंसा आदि दोष वाली।

ऋषि बूटेरायजी – १) विपाकसूत्र में वर्णन है श्रीगौतमस्वामी को रानी मृगादेवी ने कहा कि अपने मुख पर मुँहपत्ती बाँध लो क्योंकि जिस रोगी के पास हम लोग जा रहे हैं उसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध छूट रही है। यदि गौतमस्वामी के मुख पर मुँहपत्ती बँधी होती तो बाँधने को क्यों कहा ? इस से स्पष्ट है कि गौतमस्वामी के मुख पर मुँहपत्ती बँधी नहीं थी। दुर्गन्ध से बचने के लिये उनको मृगादेवी ने वस्त्र से मुंह–नाक को ढाँकने के लिये कहा था, वह भी मात्र उतने ही समय के लिये, जब तक वे उसके पास रहे[१]। परन्तु सावद्य भाषा अथवा वायुकाय की हिंसा से बचने के लिये नहीं कहा। जैन श्रमण सदा नंगे सिर रहता है। यदि उसका सिर फोडे–फुंसियों से भर जावे और मक्खियों के उपद्रव को रोकने के लिये सिर को कपडे से ढाँकना पडे, तो उसका प्रयोजन सिर को प्रति दिनरात चौबीस घंटे जीवनपर्यंत ढाँकने का नहीं है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रमाण को देकर चौबीस घंटे जीवनपर्यंत सिर ढाँकने का सिद्धान्त बना ले तो विचक्षण लोग उसे बेसमझ ही कहेंगे। वैसे ही इस प्रसंग से भी समझना चाहिये।

---

१ ऋषि रामलालजी के साथ चर्चा के प्रसंग पर विपाकसूत्र के पाठ के साथ इस का विवेचन कर आये है (पृष्ठ १८–१९)। अतः जिज्ञासु पाठक उसे पढ आये है। नहीं ध्यान में हो तो वहाँ से देख लें। इसलिये यहाँ पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझा।

२) श्रीभगवती सूत्र के शक्रेन्द्रवाले पाठ को भी समझ लेना चाहिये, जो इस प्रकार है – **(प्रश्न) सक्के णं भंते देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासति अणवज्जं पि भासं भासति ? (उत्तर) गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासति अणवज्जं पि । (प्रश्न) से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ - सावज्जं पि जाव अणवज्जं पि भासं भासति ? (उत्तर) गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिजूहित्ता णं भासं भासति, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासति । जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिजूहित्ता णं भासं भासति, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासति, से तेणट्ठेणं जाव भासति । (प्रश्न) देविंदे देवराया किं भवसिद्धीए अभवसिद्धीए सम्मदिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए एवं जहामो उद्देसए सणंकुमारे जाव नो अचरिमे ।" (भगवतीसूत्र श० १६ उ० २)**

अर्थात् - (प्रश्न) हे प्रभो ! शक्र देवेन्द्र देवताओं का राजा सावद्य (पापयुक्त) भाषा बोलता है अथवा निरवद्य (पापरहित) भाषा बोलता है ? (उत्तर) हे गौतम ! वह सावद्य भाषा भी बोलता है, निरवद्य भाषा भी बोलता है। (प्रश्न) हे पूज्य ! आप ऐसा कैसे कहते हैं कि वह सावद्य भाषा भी बोलता है, निरवद्य भाषा भी बोलता है ? (उत्तर) हे गौतम ! यदि शक्रेन्द्र देवेन्द्र देवताओं का राजा मुख को हाथ से ढाँक कर अथवा वस्त्र से ढाँक कर नहीं बोलता तो सावद्य भाषा बोलता है। हाथ अथवा वस्त्र से मुख को ढाँक कर बोलता है तो निरवद्य भाषा बोलता है। (प्रश्न) हे प्रभो ! शक्र देवेन्द्र देवताओं का राजा भवसिद्ध है अथवा अभवसिद्ध है ?

सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है ? (उत्तर) हे गौतम ! हम इसका खुलासा इसी आगम के तृतीय शतक के प्रथम उद्देश में सनत्कुमार के वर्णन में कर आये हैं, उसके अनुसार समझ लेना ।[१]

यहाँ पर भी मुख को ढाँकना कहा है, बाँधना नहीं कहा ।

ऋषि अमरसिंहजी - आगमों में मुँह को ढाँक कर बोलने को कहा है ऐसा आपने भगवतीसूत्र के पाठ से स्पष्ट कहा है । तो मुख पर मुँहपत्ती बाँधना स्वतःसिद्ध हो गया ?

---

१ सनत्कुमार देवराज का प्रसंग इस प्रकार है :—

(प्रश्न) सणंकुमारे णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धीए, अभवसिद्धीए ? सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी ? परित्तसंसारए, अणंतसंसारए ? सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए ? आराहए, विराहए ? चरिमे, अचरिमे ?

(उत्तर) गोयमा ! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धीए, नो अभवसिद्धीए, एवं सम्मद्दिट्ठी, परित्तसंसारए, सुलभबोहिए, आराहए, चरमे पसत्थं नेयव्वं ।

(प्रश्न) से केणट्ठेणं भंते ?

(उत्तर) गोयमा ! सणंकुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं हिअकामए, सुहकामए, पत्थकामए, आणुकंपिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह(निस्सेयंसिय निस्सेसकामए), से तेणट्ठेणं गोयमा सणंकुमारे णं भवसिद्धीए, जाव नो अचरिमे ।

अर्थात् - (प्रश्न) हे भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवताओं का राजा सनत्कुमार भवसिद्धिक है, अथवा अभवसिद्धिक है ? सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है ? मितसंसारी है अथवा अमित- अनन्तसंसारी है ? सुलभ बोधवाला है अथवा दुर्लभ बोधवाला है ? आराधक है अथवा विराधक है ? चरम है अथवा अचरम है ?

(उत्तर) हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार भवसिद्धिक है पर अभवसिद्धिक नहीं, इसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि है मिथ्यादृष्टि नहीं, मितसंसारी है अनन्तसंसारी नहीं, सुलभ बोधवाला है दुर्लभ बोधवाला नहीं, आराधक है विराधक नहीं, चरम है अचरम नहीं, अर्थात् इस सम्बन्ध में सब प्रशस्त जानना ।

ऋषि बूटेरायजी - १- आगम में कहीं भी मुखपत्ती को डोरा डाल कर अथवा किसी अन्य प्रकार से भी चौबीस घंटे मुँह पर मुखपत्ती बाँधने का उल्लेख नहीं है। जहाँ पर भी प्रसंग आया है, हाथ से अथवा हाथ में ही मुखपत्ती रख कर मुख को ढाँकने के लिये कहा है। वह भी मात्र बोलते समय अथवा पडिलेहण आदि करते समय के लिये कहा है। यदि चौबीस घंटे अथवा व्याख्यानादि के समय मुँहपत्ती बाँधने का आगम प्रमाण हो तो दिखलाइये। और यदि मुँहपत्ती बँधी हो तो फिर ढाँकने का प्रयोजन ही नहीं रहता।

२- दूसरी बात यह है कि वायुकाय आठस्पर्शी है और मुख की बाष्प अथवा शब्द चारस्पर्शी हैं। अतः वायुकाय की हिंसा में शब्द, बाष्प अथवा दोनों मिलकर भी चारस्पर्शी होने से अशक्त हैं। इसलिये खुले मुँह बोलने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा संभव नहीं है।

३- मनुष्य के मल, मूत्र, थूक, श्लेष्म आदि १४ अशुचियों में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। यहाँ तक कि सम्मूर्च्छिम असंज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य आदि जीव भी उत्पन्न होते हैं, जैनागमों में ऐसा स्पष्ट कहा है। बोलते समय मुख से बाष्प तथा थूक आदि निकलने से मुँह बाँधे रहने से मुख के चारों तरफ थूक के जमा होने के कारण आगम-प्रमाण से सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है।

(प्रश्न) हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

(उत्तर) हे गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों और बहुत श्राविकाओं का हितेच्छु है, सुखेच्छु है, पथ्येच्छु है, उन पर अनुकंपा करनेवाला है, उनका निःश्रेयस चाहनेवाला है तथा उनके हित का, सुख का तथा निःश्रेयस का अर्थात् इन सब का इच्छुक है। इसलिये हे गौतम! वह सनत्कुमार इन्द्र भवसिद्धिक है यावत् वह चरम है, पर अचरम नहीं। (भगवती शतक ३ उद्देश १)

इसलिये मुख बांधे रखने से उन पंचेन्द्रिय आदि त्रस जीवों की उत्पत्ति और हिंसा भी संभव है। अतः चौबीस घंटे मुख बाँधे रहने से त्रसजीवों की हिंसा आगम-प्रमाण से सिद्ध है।

४- यदि वायुकाय की हिंसा खुले मुँह बोलने से संभव है और मुँह बाँधने से उनका बचाव होता है, तो अधिष्ठान (आसन-स्थान), नाक एवं मुख इन तीनों को बाँधना चाहिये । परन्तु ऐसा तो आप और आपके संत अथवा अन्य कोई भी नहीं करता ? प्रथमांग आचारांग श्रुतस्कंध २ अध्ययन २ उद्देशा ३ में कहा है कि अपने शरीर से सात कारणों से वायु निकलते समय जैन भिक्षु अथवा भिक्षुणी को हाथ से ढाँककर वायु का निसर्ग करना चाहिए। वह पाठ इस प्रकार है -

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उसासमाणे वा णिसासमाणे वा कासमाणे वा छियमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डुवाए वा वायणिसग्गे वा करेमाणे वा पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता ततो संजायमेव ओसासेज्जा जाव वायणिसग्गे वा करेज्जा ॥

अर्थात् - यह साधु अथवा साध्वी १-**श्वास लेवे,** २-**श्वास छोडे,** ३-**खांसी करे,** ४-**छींक करे,** ५-**जंभाई (उबासी) लेवे,** ६-**डकार लेवे,** अथवा ७-**वायु का निसर्ग (पाद) करे** तो मुख अथवा अधिष्ठान (आसन-स्थान) को हाथ से ढाँककर करे।

(अ) यहां पर मुख और अधिष्ठान (गुदा) को हाथ से ढाँकना कहा है, बाँधना नहीं। यदि मुख बँधा होता तो हाथ से ढाँकना क्यों कहा ? इस से स्पष्ट है कि जैन साधु-साध्वी को कभी भी चौबीस घंटे मुँह बाँधना आगम-सम्मत नहीं है।

(आ) यदि मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने से वायुकाय आदि की हिंसा का बचाव है और न बाँधने से हिंसा होना मान ली जाय, तो मुख बाँधने से जंभाई, डकार, खाँसी और शब्द के वेग तो रुक गये, परन्तु नाक द्वारा निकलनेवाले निरन्तर श्वास-निच्छ्वास तथा छींक एवं अधिष्ठान (आसन-स्थान) से निकलनेवाले वायु (पाद) द्वारा होने वाली हिंसा के बचाव के लिये मुख के साथ उपर्युक्त नाकादि दोनों को भी बाँधना चाहिये ? परन्तु ऐसा तो आप लोग भी नहीं करते ? छींक तथा पाद में निकलनेवाले शब्द के साथ वायु का वेग तो श्वासोच्छ्वास और मुख से निकलनेवाले बाष्पादि से भी अधिक वेगपूर्ण होता है । इससे स्पष्ट है कि तीनों स्थानों से निकलनेवाले शब्द, वायु और बाष्प से हिंसा संभव नहीं ।

(इ) परन्तु चौबीस घंटे मुख पर मुँहपत्ती बाँधने से मुख के चारों तरफ बाष्प और थूक के जमा हो जाने से त्रस जीवों की हिंसा संभव है। आगम में थूकादि १४ अशुचि[१] स्थानों से सम्मूर्च्छिम त्रस

१. श्रीप्रज्ञापनासूत्र में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्तिस्थान चौदह कहे हैं।

बिना माता-पिता के उत्पन्न होनेवाले अर्थात् स्त्री-पुरुष के समागम के बिना ही उत्पन्न होनेवाले जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। पैंतालीस लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में ढाई द्वीप और समुद्रो में, पन्द्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्मभूमियों और छप्पन अन्तर्द्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मल-मूत्रादि से सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। उनके नाम इस प्रकार है :-

(१) उच्चारेसु-विष्ठा में, (२) पासवणेसु-मूत्र में, (३) खेलेसु-थूक-कफ में, (४) सिंघाणेसु-नाक के मैल में, (५) वंतेसु-वमन में, (६) पित्तेसु-पित्त में, (७) पूएसु-पीप, राध और दुर्गन्ध युक्त बिगडे घाव से निकले हुए खून में, (८) सोणिएसु-शोणित-खून में, (९) सुक्केसु-शुक्र-वीर्य में, (१०) सुक्कपुग्गल-परिसाडेसु-वीर्य के त्यागे हुए पुद्गलों में, (११) विगयजीवकलेवरेसु-जीवरहित मुर्दा शरीर में, (१२) थी-पुरीस-संजोएसु स्त्री-पुरुष के संयोग (समागम) में,

जीवों असंज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यों तक की उत्पत्ति होना माना है। इसको हम पहले कह चूके हैं।

(ई) मुख पर मुँहपत्ती बाँधने से भी मुख के वायु और शब्द मुँहपत्ती को पार करके अथवा उसके चारों तरफ से निकल कर बाहर आते हैं, रुक नहीं सकते। क्योंकि मुख से निकला हुआ शब्द जब वायु के द्वारा बाहर आता है तभी कान से सब को सुनाई देता है। जैनागमों में शब्द का तुरन्त चौदह राजलोक तक (सारे ब्रह्मांड में) फैल जाने का वर्णन है। यदि मुख के शब्द और वायु से जीव-हिंसा संभव है, तो मुँहपत्ती बाँधने पर भी वायुसहित शब्द के बाहर आ जाने से हिंसा न रुक सकेगी।

अतः स्पष्ट है कि मुख के शब्द, बाष्प और वायु से वायु-कायादि के जीवों की हिंसा मानकर मुँह पर मुँहपत्ती बाँधना न तो आगमानुकूल है और न ही प्रत्यक्ष-प्रमाण और तर्क की कसौटी पर कसने से उपयुक्त है। इसके विपरीत मुँहपत्ती बाँधने से स्थावर जीवों की हिंसा न होकर त्रस जीवों की हिंसा अवश्य संभव है।

---

(१३) णगरनिद्धमणेसु-नगर की मोरी में, (१४) सव्वेसु असुइट्ठाणेसु-सब अशुचि के स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है। अर्थात् वे अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असंज्ञी (मन रहित), मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है। (पन्नवणा पद १ सूत्र ५९) (आचारांग) (अनुयोगद्वार)

नोट - विज्ञान ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी थूक आदि में सम्मूर्च्छिम त्रस जीवों की उत्पत्ति और विनाश अल्पसमय में होना प्रत्यक्ष कर दिखलाया है।

ऋषि अमरसिंहजी – फिर तो मुँहपत्ती को हाथ में रखकर मुँह ढाँकने का क्या प्रयोजन ? मुँह पर बाँधने से ही इस का मुँहपत्ती नाम सार्थक है । इस से स्पष्ट है कि मुँह बाँधना चाहिये ?

ऋषि बूटेरायजी – मुंहपत्ती का अर्थ है जो वस्तु मुख के लिये काम में आवे । जैसे पगडी, टोपी आदि सिर पर रखी जाती है, फिर वह चाहे कहीं पडी हो, पगडी और टोपी ही कहलायेगी । जूता पग में पहनने के काम आता है, फिर वह कहीं भी रखा हो, जूता ही कहलायेगा । आप लोग जिस मकान को स्थानक कहते हो और उसे स्थानकमार्गी साधु-साध्वियों का निवासस्थान कहते हो, उस मकान में चाहे कोई साधु-साध्वी कभी भी न ठहरा हो, वह स्थानक ही कहलायेगा । इसी प्रकार मुँहपत्ती का सही अर्थ यही है कि जो वस्त्र मुख के लिये काम आवे, फिर वह चाहे हाथ में हो चाहे कहीं रखा हो । इसलिये इस का अर्थ मुख पर बाँधने का संभव नहीं है ।

दशवैकालिक सूत्र में मुखवस्त्रिका के लिये 'हत्थगं' (हस्तक) शब्द का प्रयोग किया है । इससे भी प्रमाणित होता है कि मुखवस्त्रिका हाथ में रखनी चाहिये और बोलते समय इस से मुख को ढांककर बोलना चाहिये । यथा —

''अणुन्नवित्तु मेहावी, परिछिन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजये ॥ (५।८३)

व्याख्या- 'तत्र अणुन्नवि त्ति' अनुज्ञाप्य सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं 'मेधावी' साधु, 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठादौ 'संवृत' उपयुक्तः सन् साधुः ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु **'हत्थगं' हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपम्'** आदायेति वाक्यशेषः,

'संप्रमृज्य' विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत 'संयतो' रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ।''

भावार्थ - ग्रामादि से गोचरी लाकर आहार करने के निमित्त स्थानवाले गृहस्थी से आज्ञा लेकर एकान्त स्थान में जाकर ईर्यावही पडिकमे । तदनन्तर **हत्थग** अर्थात् **मुखवस्त्रिका** पडिलेहे । उस से विधिपूर्वक शरीर की पडिलेहणा करे । उसके बाद समभावपूर्वक एकांत में आहार करे ।

इस गाथा में मुखवस्त्रिका के लिये प्रयुक्त हुआ शब्द 'हस्तकं'[१] मुखवस्त्रिका के हस्तगत होने की ओर ही संकेत करता है । इसको अधिक स्पष्ट समझने के लिये और प्रमाण देता हूँ —

१. स्थानकमार्गियों के उपसंप्रदाय तेरापंथी पंथ के आचार्य श्रीतुलसी गणिजी ने अपने द्वारा संपादित दशवैकालिक की हत्थगं वाली गाथा की टिप्पणी नं० २०२ से २०४ तक में पृष्ठ २७ में लिखा है कि- ''अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्ति) स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है - 'हे श्रावक ! तुम्हें धर्मलाभ है । मैं मुहूर्त-भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ ।' अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार प्रकट होती है - गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है - 'आप चाहते हैं वैसे विश्राम की आज्ञा देता हूँ ।' छाये हुए एवं संवृत स्थान में (पडिछन्नम्मि संवुडे) । जिनदासचूर्णि के अनुसार 'पडिछन्न' और 'संवृत' ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं । उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं, शान्त्याचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ में स्थान का विशेषण माना है और गौणार्थ में संवृत को भूमि का विशेषण माना है । बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार स्थल 'प्रच्छन्न' ऊपर से छाया हुआ और 'संवृत' पार्श्वभाग से आवृत होना चाहिये । इस दृष्टि से प्रतिच्छन्न और संवृत दोनों विशेषण होने चाहिये । हस्तकं से (हत्थगं) हस्तक का अर्थ मुखपोतिका[१] मुखवस्त्रिका होता है । कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'हस्तक' का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी) करते हैं । किन्तु यह साधार नहीं (बिना आधार के) लगता है । ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रंथो में मुखवस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन[२] करना बतलाया है । पात्रकेसरिका का अर्थ होता है पात्र

१-"अंगचूलिया शास्त्र-४३ सूत्र में कहा है कि **पुव्विं पत्तिं पोहिय वंदणं दाओ**। अर्थात् पहले मुख को वस्त्र से ढाँककर पीछे वन्दना करे।" यदि मुँह बँधा होता तो मुख ढाँकने को क्यों कहते ?

२-"**चउरंगुल पायाणं, मुंहपत्ति उज्जूए, उव्वहत्थ रयहरणं। वोसट्ठ चत्त देहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥**"

(आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५४५)

व्याख्या - **चउरंगुल**त्ति चत्तारि अंगुलानि **पायाणं** अंतरं करेयव्वं। **मुहपत्ति** मुहपोत्तिं **उज्जोए**त्ति दाहिणहत्थेण मुंहपोत्तिया घेतव्वा, **उव्वहत्थे रयहरणं** कायव्वं। एतेण विहिणा **वोसट्ठ चत्तदेहो त्ति** पूर्ववत् काउस्सग्गं करिज्जाहि त्ति गाथार्थः।

इस गाथा में कायोत्सर्ग की विधि का वर्णन है। कायोत्सर्ग के लिये इस प्रकार खडे होना चाहिये, जिससे दोनों पैरों के बीच में चार अंगुल का अन्तर हो। तथा दक्षिण (दाहिने) हाथ में मुँहपत्ती एवं वाम (बायें) हाथ में रजोहरण रखना। दोनों भुजाओं को लम्बी लटका कर सीधे खडे होकर शरीर का व्युत्सर्ग करते (शरीर को वोसराते) हुए ध्यानारूढ होना चाहिये। यह काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) की विधि है। इस गाथा से कायोत्सर्ग करते समय मुखवस्त्रिका को दाहिने (सीधे) हाथ में रखने का स्पष्ट निर्देश है।

मुखवस्त्रिका के काम आनेवाला वस्त्र खंड(?)। 'हस्तकं[३], मुखवस्त्रिका और मुखाँतक' ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

१-(क) अ० चू० ससि सोवरियं हस्संतं हत्थगं।

२-(ख) जि० चू० पृ० १८७-हत्थगं मुखपोतिया भण्णइ त्ति।

३-(ग) हा० टी० पृ० १७९-हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपं। (तुलसी गणि संपादित दशवैकालिक)

आपकी शंका के समाधान के लिये उपर्युक्त प्रमाणों से कोई कमी नहीं रही होगी। अतः समाधान हो गया होगा ?

ऋषि अमरसिंहजी – आपने निर्युक्ति आदि के जो प्रमाण दिये हैं वे हमें मान्य नहीं हैं। ये तो पीछे के आचार्यों ने मनमाने लिख दिये हैं। हम तो मूल पाठ को मानते हैं सो पाठ बतलावें।

दूसरी बात यह है कि **हत्थगं** शब्द का अर्थ जो **मुखपोतिका** व्याख्याकार आचार्यने किया है, हमारे परम्परा के साधु इसका अर्थ **पूंजनी** करते हैं। क्योंकि पूंजनी (प्रमार्जनी) हाथ में रखी जाती है और मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी जाती है। इस लिये इसका अर्थ मुँहपत्ती संभव नहीं है।

ऋषि बूटेरायजी – १– मूलागमों में मुँहपत्ती का वर्णन तो आया है, परन्तु इसके स्वरूप और प्रयोजन का वर्णन नहीं मिलता। यदि मिलता है तो ओघनिर्युक्ति में मिलता है और वास्तव में विचार किया जावे तो निर्युक्ति भी आगम के समान ही प्रामाणिक है। कारण कि उसके निर्माता कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं किन्तु पाँचवें श्रुतकेवली चौदहपूर्वधारी जैनाचार्य भद्रबाहुस्वामी हैं। शास्त्रानुसार तो अभिन्न–दसपूर्वी तक का कथन भी सम्यग्– यथार्थ ही माना है। क्योंकि अभिन्न–दसपूर्वी तक नियमेन सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसके लिये नन्दीसूत्र का मूलपाठ यह है–

''इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चउदपुव्विस्स सम्मसुअं, अभिण्णदस-पुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा से णं सम्मसुअं ॥

और यह निर्युक्तिकार तो जैनाचार्य पंचम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी चतुर्दशपूर्वधारी थे । इसलिये उनकी प्रमाणिकता में सन्देह को स्थान ही कहाँ है ?

२- आप लोग **हत्थगं** शब्द का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी) करते हैं । यह भी सर्वथा आगम तथा प्रसंग के विपरीत है जो कि इसकी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है । हत्थग का अर्थ **पूंजनी** आपके उपसंप्रदायवाले तेरापंथी भी नहीं मानते । जो कि आप के समान ही मुखवस्त्रिका को मुँह पर बाँधे रहते हैं । अतः आगम-विरुद्ध अर्थ करना उचित नहीं है । आगम-विरुद्ध अर्थ करनेवालों को शास्त्रकारों ने अनन्त संसारी तथा निह्नव कहा है ।

ओघनिर्युक्ति में इस विषय में सम्बन्ध रखनेवाली दो गाथाएं हैं । एक में मुँहपत्ती-मुखवस्त्रिका के परिमाण-माप का स्वरूप और आकार का वर्णन है और दूसरी में उसका प्रयोजन बतलाया है-

यथा- ''**चउरंगुलं विहत्थी एवं मुहणंतगस्स उपमाणं ।**
बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं'' ॥ ७११ ॥

व्याख्या - चत्त्वायंङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्त्रं **मुखानन्तकस्य** प्रमाणं, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतये, एतदुक्तं भवति - वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिका-पृष्ठतश्च यथा ग्रन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्तव्यम् । त्र्यस्त्रं कोणद्वये गृहीत्वा यथा कृकाटिकायां गन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्तव्यमिति एतद् द्वितीयं प्रमाणं-गणणाप्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेव मुखानन्तकं भवतीति ॥

इस गाथा में मुखवस्त्रिका का परिमाण–माप बतलाया है, जो चारों ओर से एक वेंत और चार अंगुल हो अर्थात् १६ अंगुल लम्बी और १६ अंगुल चौडी हो ऐसी चार तहवाली मुखवस्त्रिका होती है। यह मुखवस्त्रिका का एक माप है। दूसरा उपाश्रय आदि का प्रमार्जन–प्रतिलेखन करते समय जिस मुखवस्त्रिका को त्रिकोण करके उसके दोनों सिरों को पकडकर नासा और मुख ढँक जावे और गर्दन के पीछे गाँठ दी जावें, इस प्रकार की मुखवस्त्रिका होनी चाहिये। यह उसका दूसरा माप या स्वरूप है। परन्तु ध्यान में रहे कि यहाँ जो मुखवस्त्रिका के दो माप या स्वरूप बतलाये हैं, ये एक ही मुखवस्त्रिका के दो विभिन्न स्वरूप या माप हैं। वैसे गणना में तो एक ही मुखवस्त्रिका समझे, दो नहीं।[१]

---

१. जैन साधु–साध्वी प्राचीनकाल से ही सदा मुखवस्त्रिका को हाथ में रखते आ रहे हैं – इस बात की पुष्टि और अधिक स्पष्ट करने के लिये श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) प्रथम तीर्थंकर की बीच में बैठी हुई प्रतिमा के साथ दो खडे तीर्थंकरों की मूर्तियाँ वाली प्रतिमा देवगढ किले के जैन मंदिर में है और ईसा के पूर्व समय की अति प्राचीन काल की है। इसी प्रतिमा में ईन के नीचे दो जैन साधुओं की मूर्तियाँ भी अंकित हैं। बीच में स्थापनाचार्य है। इसके एक तरफ साधु के हाथ में मुखवस्त्रिका है तथा दूसरी तरफ एक साधु मुँहपत्ति का पडिलेहन कर रहा है।

क्योंकि दिगम्बर साधु या आर्यका न तो अपने पास मुखवस्त्रिका रखते हैं और न ही स्थापनाचार्य। इसलिये इस में सन्देह को कोई स्थान नहीं रहता कि प्रभु महावीर के समय अथवा उस से पहले के अन्य तीर्थंकरों के समय से ही सदा जैन निर्ग्रंथ साधु–साध्वी मुखवस्त्रिका को हाथ में ही रखते आ रहे है। मुख पर कदापि नहीं बाँधते थे।

अतः श्वेताम्बर जैन अत्यन्त प्राचीन काल से ही नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की जिन प्रतिमाओं को मानते तथा उनकी पूजा–अर्चा करते आ रहे हैं।

२- दूसरा प्रमाण हम यहाँ हिन्दुओं के शिवपुराण का देते हैं। जिसमें जैनधर्म की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जैन साधु के स्वरूप का वर्णन दो श्लोकों में इस प्रकार किया है—

"मुण्डिनं म्लानवस्त्रं च गुम्फिपात्रसमन्वितम् ।
दधानं पुञ्जिकां हस्ते चालयन्तं पदे पदे ॥ १ ॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षिप्यमाणं मुखे सदा ।
धर्मेति व्याहरन्तं न वाचा किल्कवया मुनिम्[१] ॥ २ ॥

अर्थात् - सिरसे मुंडित (लोच किये हुए), मलिन-वस्त्र पहने हुए, काष्ठ के पात्र और पुंजिका (रजोहरण) हाथ में रखते हुए, पद-पद पर उसे चलायमान करते हुए, हाथ में एक वस्त्र लेकर उससे मुख को ढाँकते हुए और धर्मलाभ मुख से बोलते हुए, ऐसे पुरुष को उत्पन्न किया।

१- इन दो श्लोकों से भी स्पष्ट है कि जैन साधु-साध्वी हाथ में प्राचीन काल से ही मुखवस्त्रिका रखते आ रहे हैं।

२- इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि निर्युक्तियों, चूर्णियों आदि में वर्णन किये गये मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने के उल्लेख मूल जैनागमों के अनुकूल हैं और उन्हीं के अनुसार मानकर तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा को स्वीकार करना है। यदि निर्युक्ति को न माना जावे तो मुँहपत्ती का स्वरूप कहीं से भी मिलना संभव नहीं है। इसलिये इसके विपरीत आचरण करना जिनाज्ञा के विरुद्ध है।

१. कलकत्ता बंगला आवृत्ति शिवपुराण ज्ञान सं० अ० २१, २२ पृष्ट ८३। थोडे फेरफार के साथ मिलता है।

३– मुँह पर चौबीस घंटे मुँहपत्ती बाँधने का और मुँहपत्ति में डोरा डाल कर कानों में लटकाये रखने का उल्लेख आगमों में कहीं भी न होने से हमने इसका त्याग करना उचित समझा है। आपको तथा आपके स्थानकमार्गी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय के साधुओं को भी ऐसा ही करना उचित है।

ऋषि अमरसिंहजी – यदि मुख द्वारा निकले हुए बाष्प तथा शब्द से हिंसा संभव नहीं, तो मुखवस्त्रिका का प्रयोजन कुछ नहीं रहता।

ऋषि बूटेरायजी – इसी ओघनिर्युक्ति में मुँहपत्ति का प्रयोजन जिस गाथा में बतलाया है, उसे भी जान लो –

''**संपातिमरयरेणुपमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं ।**
नासं मुहं च बंधइ तीए वसहीं पमज्जंतो'' ॥ ७१२ ॥

व्याख्या – संपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पदभिमुखे दीयते, तथा रजः सचित्तपृथ्वीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते; तथा रेणुप्रमार्जनार्थं ये मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकां मुखं च बध्नाति तथा मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविश्यतीति ॥

इस गाथा का भावार्थ यह है कि १– बोलते समय संपातिम (उडते हुए) जीवों का मुख में प्रवेश न हो, इस लिये मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखकर बोलना। २– पृथ्वीकाय के प्रमार्जन के लिये मुखवस्त्रिका का उपयोग करना। अर्थात् जो सूक्ष्म धूली उडकर शरीर पर पडी हुई हो, उस के प्रमार्जन–प्रतिलेखन के लिये मुखवस्त्रिका को ग्रहण करना प्राचीन ऋषिमुनियों ने कहा है।

३- उपाश्रयवसती आदि की पडिलेहणा करते समय नाक और मुख को बाँधने (आच्छादित करने) के लिये [जिससे कि सचित रज का मुख और नाक में प्रवेश न हो सके] मुखवस्त्रिका को ग्रहण करना चाहिये ।

इस गाथा में मुखवस्त्रिका के तीन प्रयोजन बतलाये हैं । १- मुख ढाँके बिना बोलते समय कोई उडनेवाला छोटा जीव-जन्तु (मक्खी-मच्छर आदि) मुख में गिरा जाना संभव है । इसलिये उसकी रक्षा के लिये बोलते समय मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखना । २- शरीर पर उडकर पडी हुई सूक्ष्म धूली को मुखवस्त्रिका द्वारा शरीर पर से दूर करना । ३- उपाश्रय आदि वसती के प्रमार्जन के समय मुख और नासिका को मुखवस्त्रिका को तिकोण करके उससे ढँक लेना और उसके दोनों कोणों (सिरों) को गले के पीछे बाँध लेना जिससे मुख और नासिका में सचित्त धूली आदि का प्रवेश न हो । इसके लिये साधु-साध्वी को मुखवस्त्रिका रखनी चाहिये । संक्षेप में कहें तो- १- बोलते समय संपातिम जीवों की रक्षा के लिये, २- शरीर आदि की प्रमार्जना के समय, तथा ३- उपाश्रय आदि की प्रमार्जना के समय पृथ्वीकाय आदि सचित स्थावर जीवों की रक्षा के लिये साधु-साध्वी को मुखवस्त्रिका का रखना अनिवार्य है।

४- चौथा कारण यह है कि शास्त्रादि वाँचते तथा व्याख्यानादि करते समय सूक्ष्म थूक, श्लेष्म आदि का मुख से उडना संभव है और उसके शास्त्रादि पर गिर जाने से आशातना होती है । इनसे बचने के लिये भी मुखवस्त्रिका से मुख ढाँकना आवश्यक है । इस बात को मैं पहले भी आचारांग श्रुतस्कन्ध २ अध्याय २ उद्देशा ३ के पाठ से बतला चुका हूँ ।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट है कि खुले मुँह बोलने से होने वाली जीवों की हिंसा से बचने के लिये मुखपत्ती को चौबीस घंटे मुख पर बाँधे रखना सर्वथा अनुचित है ।[१]

फिर जिनप्रतिमा को मानने और पूजने के विषय में भी चर्चा होती रही । इसके लिये आगमों के प्रमाण भी दिये गये[२] ।

इस प्रकार कई दिनों तक चर्चा चलती रही । ऋषि अमरसिंहजी के पास अब कोई युक्ति अपने पक्ष की सत्यता सिद्ध करने के लिये नहीं थी । परन्तु परिणाम कुछ न निकला । ऋषि अमरसिंहजी अपने साधुओं को साथ लेकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही स्यालकोट से विहार कर गये । फिर आपके अनुयायी रामनगरवाले भाई स्यालकोटवालों को कदाग्रही जान कर वहाँ से रामनगर वापिस चले गये । इस चर्चा का परिणाम यह आया कि आपके अनुयायियों की श्रद्धा और भी दृढ हो गई । ऋषि बूटेरायजी भी कुछ दिनों बाद स्यालकोट से विहार कर जम्मु चले गये । वहाँ के अनेक श्रावकों ने आपकी श्रद्धा को स्वीकार किया । यहाँ से आपने रामनगर की तरफ विहार किया ।

उग्र विरोध का झंझावात

ऋषि अमरसिंहजी ने पूज्य बूटेरायजी के विरोध में सारे पंजाब में अपने अनुयायी संघो को शाही-फरमान जारी कर दिया ।

---

१. पूज्य बूटेरायजी ने स्वलिखित "मुँहपत्तीचर्चा" की पुस्तक में बहुत विस्तार से इस विषय का स्पष्टीकरण किया है । यहाँ तो हमने संक्षेप से ही लिखा है । विशेष जानने की रुचिवाले वहाँ से देखें ।

२. जिनप्रतिमा की चर्चा के विषय में अन्यत्र लिखेंगे ।

सब जगह चिट्ठियाँ डलवा दी कि ''बूटेराय की न कोई संगत करे, न उस से मिले, न उसको ठहरने के लिये स्थान दे और न ही कोई उसका व्याख्यान सुनने जावे ।'' सारे पंजाब में खूब जोरशोर से आन्दोलन शुरू कर दिया कि ''बूटेराय गुजरांवाला, रामनगर आदि स्थानों में बैठा रहे तो उसकी मरजी । यदि हमारे क्षेत्रों में आवे तो उसका वेष उतार लिया जावे, छीन लिया जावे, और उसे पंजाब से भगा दिया जावे । यह भी क्या याद करेगा ?'' इस प्रकार सारे पंजाब में आपके विरोध की आग भडक उठी । उस समय आप अकेले ही थे । दूसरा साधु आपके साथ कोई न था । आपके चार चेले बाइसटोले (स्थानकमार्गी) के थे । दो मालेरकोटले में हुए थे, तीसरा खरड नगर का अग्रवाल बनिया था और चौथा पंजाब का एक जाट था । इन चारों में से दो तो आपका साथ छोड गये थे, जाट वेष छोड कर निकल गया था और चौथा मर गया था । स्थानकमार्गी साधु लालचंदजी का एक चेला जिसका नाम प्रेमचन्द था वह दीक्षा छोडकर आपके पास आ गया । इस की आयु पंद्रह-सोलह वर्ष की थी । वह पुनः दीक्षा लेकर आपके साथ तीन चार वर्षों तक विचरता रहा । आप के पास इसने कुछ आगम-शास्त्रों का अभ्यास भी किया । जब उसकी यौवनावस्था हुई तब उसने एक दिन एकांत में आप से कहा कि ''गुरुजी ! मेरा मन डाँवाडोल हो गया हैं, कामवासना जाग्रत हो उठी है । इसलिये मैं साधु के वेष को छोडकर गृहस्थ के वेष में चला जाना चाहता हूँ ।'' उसकी आप पर बहुत श्रद्धा थी, इसलिये उसने आपके अपने मनोगत भाव निःसंकोच कह डाले । आपने उसे संयम में दृढ रखने के लिये बहुत समझाया, पर उसके भाव न बदले । आपसे बोला -

"गुरुदेव ! आप यदि मुझे वेष में रखने का आग्रह करेंगे और यदि कदाचित् इस वेषमें मुझसे कोई अकार्य हो जावेगा तो धर्म और आपकी निन्दा होगी । मैं तो निन्दनीय हो गया । मेरे परिणाम पतित हो चुके हैं, इसलिये आप मुझे रोकने के लिये आग्रह न करें । यदि मेरे परिणाम फिर सुधर जायेंगे तो मैं फिर आकर आपका चेला बन जाऊंगा ।" ऐसा कह कर प्रेमचन्द अपने पोथी-पन्ने और साधु का वेष आपको देकर वन्दना-नमस्कार करके गुजरांवाला के उपाश्रय में से रात की दो घडी बाकी रहते हुए आपके पास से चला गया । उसने लाहौर जाकर एक सिख सरदार के वहां नौकरी कर ली । फिर वह एक वर्ष के बाद छुट्टी लेकर आपकें पास दर्शनों को आया । पंद्रह-बीस दिन आप के पास रहकर वह वापिस चला गया । ये सब घटनाए चर्चा (सद्बोध का कार्यक्रम) चालू होने से पहले ही हो चुकी थीं । अब आपने अकेले ही वि० सं० १९०० (ई० स० १८४३) का चौमासा पसरूर में किया । यहाँ पर लाला जिवन्देशाह भावडे (ओसवाल) दूगड का भानजा मूलचन्द जो स्यालकोट का रहनेवाला था, उसकी भावना आपके पास दीक्षा लेने की हुई । यहाँ पर भी दो-चार परिवारों ने आपकी श्रद्धा को धारण किया । इनका परिवार किला-सोभासिंह में था, जो पसरूर से दक्षिण की तरफ चार-पांच मील की दूरी पर था । वि० सं० १९०१ (ई० स० १८४४) का चौमासा आपने अकेले ही रामनगर में किया । चौमासे उठे आप गुजरांवाला में पधारे । यहाँ मूलचन्द ने १६ वर्ष की आयु में वि० सं० १९०२ (ई० स० १८४५) में आपके पास दीक्षा ग्रहण की । मूलचन्द के माता-पिता तथा इन का परिवार स्यालकोट में

रहते थे । मूलचन्द के पिता का नाम सुक्खेशाह और माता का नाम महताबकौर था । बीसा ओसवाल (भावडे) बरड गोत्रीय थे और स्थानकमार्गी मत के अनुयायी थे ।

इस समय पूज्य बूटेरायजी की कीर्ति सारे पंजाब में चारों तरफ फैल चुकी थी । आपके तप और त्याग की गहरी छाप सब के दिलों में अपना घर कर चुकी थी । आपकी सत्यनिष्ठा, परिषहों तथा उपसर्गों को सहन करने में वज्रसमान दृढता, वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के सिद्धान्तों की प्ररूपणा तथा प्रसार की अनोखी भावना ने मिथ्यादृष्टियों के सिंहासनों को हिला दिया था । मूलचन्दजी के माता-पिता चाहते थे कि उनके बेटे की दीक्षा बूटेरायजी के पास न हो । वह ऋषि अमरसिंह के पास दीक्षा ले । क्योंकि इनके माता-पिता कट्टर स्थानकमार्गी थे । पर मूलचन्दजी के मामा लाला जिवन्देशाह दूगड तथा मूलचन्दजी पसरूर में ऋषि बूटेरायजी की चर्चा सुन चुके थे । इनको आपकी श्रद्धा हृदयंगम हो चुकी थी । इसलिये लाला जिवन्देशाह तथा मूलचन्दजी के दृढ संकल्प के सामने मूलचन्दजी के माता-पिता को झूकना पडा और बरबस उन्हें अपने लाडले को आपके पास दीक्षा लेने की आज्ञा देनी पडी । मूलचन्दजी को दीक्षा देने के बाद वि० सं० १९०२ (ई० स० १८४५) का चौमासा आपने गुजरांवाला में मूलचंदजी के साथ किया । चौमासे उठे मूलचन्दजी को गुजरांवाला में लाला कर्मचन्दजी[१] साहब दुग्गड शास्त्री से जैनशास्त्रों के अभ्यास करने के लिये छोड गये और आपने पटियाले की तरफ विहार किया ।

१. इस जीवनचरित्र के लेखक श्रावक पंडित श्रीहीरालालजी दुग्गड के पितामह ।

रास्ते में एक स्थानकमार्गी साधु अठारह वर्ष का जिसका नाम धर्मचन्द था, वह विचक्षण और बुद्धिमान था । उसने आपके पास दीक्षा ली । उसे साथ में लेकर आप गुजरांवाला में आये, उस समय प्रेमचन्द भी आपके पास आया और आपसे अपने पोथीपन्ने लेकर, आपको भावपूर्वक वन्दना करके गृहस्थ के वेष में ही वि० सं० १९०३ (ई० स० १८४६) का चौमासा पिंडदादनखां में जाकर किया । आपने और धर्मचन्दने रामनगर में चौमासा किया । मूलचन्दजी ने लाला कर्मचन्दजी शास्त्री के पास विद्याभ्यास करने के लिये गुजरांवाला में चौमासा किया ।

प्रेमचन्द को पिंडदादनखां के भाइयों ने प्रतिबोधित कर लिया और वह फिर दीक्षा लेने को तैयार हो गया । चौमासे उठे आप (बूटेरायजी)ने रामनगर से गुजरांवाले की तरफ विहार किया और मूलचन्दजी ने गुजरांवाला से रामनगर की तरफ विहार किया । रास्ते में जब गुरु और चेला मिले तो दोनों ने मुंहपत्ती का डोरा तोड दिया । इस दिन से आप मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने लगे । रामनगर गुजरांवाला के जिले में है और गुजरांवाला से पश्चिम की ओर लगभग ३० मील की दूरी पर है तथा लाहौर से उत्तर-पश्चिम की ओर अकालगढ होते हुए लगभग ५० मील की दूरी पर है । रामनगर चन्द्रभागा (चनाब) नदी के किनारे पर आबाद है । आप मूलचन्दजी और धर्मचन्दजी (अपने दोनों शिष्यों) के साथ गुजरांवाला पहुँचे । तब प्रेमचन्द की पिंडदादनखाँ से आपके नाम एक चिट्ठी आयी । उसमें लिखा था कि ''पूज्य गुरुदेव ! कृपा करके आप पिंडदादनखाँ पधारो और मुझ अनाथ को पुनः दीक्षा देकर मेरा

पुनरोद्धार करो। अब मेरा भोगावली कर्म क्षीण हुआ मालूम होता है और मुझे पूर्ण वैराग्य का उदय हुआ है।"

आप स्वयं तो वहां नहीं जा सके किन्तु श्रीमूलचन्दजी को भेजा। श्रीमूलचन्दजी के पिंडदादनखाँ पहुँचने से पहले ही प्रेमचन्द ने जिनप्रतिमा की तथा श्रीसंघ की साक्षी से आपके नाम की (आपको गुरु धारण करके) दीक्षा ग्रहण कर ली। आपके स्वयं न जाने का कारण यह था कि आपको स्यालकोट जाना जरूरी था। वहाँ से आप को एक भाई बुलाने आया था। उस भाई का परिचय इस प्रकार है —

नगर रावलपिंडी का एक भाई जिसका नाम मोहनलाल था। वह बीसा ओसवाल (भावडा)[१] यक्ष (जख) गोत्रीय था। जब वह सात-आठ वर्ष का था तब उसकी आंखें दुखने आयी थीं और वह नेत्रहीन (अन्धा) हो गया था। घर में सब प्रकार से सुखी था। माता-पिता और सब परिवार सुखी और सम्पन्न थे। भाई

१. श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी ओसवाल एक बृहज्जाति है। कहा जाता है कि इस जाति के १४४४ गोत्र हैं। इनको जैनाचार्यों ने राजपूतों-क्षत्रियों आदि से प्रतिबोधित कर जैनधर्मानुयायी बनाया था। इस जाति में महाराणा प्रतापसिंह के महामन्त्री मेवाड देश संरक्षक कावडिया गोत्रीय भामाशाह; दीनोद्धारक जगडूशाह; खेमा देदरानी; ताराचन्द; दयालशाह; कर्मचन्द बच्छावत आदि अनेकानेक रणवीर, शूरवीर, राज्यसंचालक नेता, प्रधानमंत्री, राजकीय कोषाध्यक्ष, धर्मवीर, दानवीर, भारत देश की स्वतन्त्रता रक्षक आदि हो चुके हैं। मुसलमान बादशाहों ने इस जाति को शाह और हिन्दु महाराजाओं आदि ने सेठ, नगरसेठ, जगतसेठ आदि महा-पदवियों से विभूषित किया था। राजस्थान के राणाओं, महाराणाओं, राजाओं, महाराजाओं ने इनको महाजन के नाम से अलंकृत किया था। पंजाब में ये लोग "भावडा" के नाम से प्रसिद्ध थे। भावडा शब्द का अर्थ है जिनके भाव बडे उच्च हैं, उत्कृष्ट हैं। विक्रम से एक शताब्दी पहले इस देश में जैनाचार्य कालिकाचार्य (नरपिशाच स्त्रीलंपट

मोहनलाल संसार से विरक्त हो चुका था, उसकी दीक्षा लेने की उत्कट भावना थी, पर नेत्रहीन होने से उसकी यह भावना सफल न हो सकी। वह घर को छोड कर प्रायः उपाश्रय में ही रहने लगा था। बुद्धि का बहुत विचक्षण था। कुछ आगमों का भी अभ्यास कर लिया था। इस प्रकार वह जैन दर्शन के ज्ञान में अच्छा प्रवीण हो गया था और स्वल्प परिमित आहार-पान करता था, वह भी मात्र शरीर को भाडा देने के लिये। वह बाल-ब्रह्मचारी था। नवकारसी, पोरिसी, साड्ढपोरिसी, पुरिमड्ढ, एकासना, आयंबिल, उपवास, बेला, तेला, अट्ठाई, आधामास, मासखमण आदि अनेक प्रकार की छोटी-बडी तपस्याएं करता रहता था। सारे पंजाब में इसकी मान-प्रतिष्ठा बहुत थी। श्रावक के सम्यक्त्वमूल बारह व्रतों को धारण किए था। नित्य प्रतिक्रमण, सामायिक आदि करता था और पर्व दिनों में पोसह, संवर आदि भी करता था। इसको आपश्री पर अनन्य श्रद्धा और आस्था थी। जहाँ कहीं भी आप विराजते वहाँ रावलपिंडी से पैदल चलकर आपके दर्शन को आता रहता था। कई कई महीनों

दुराचारी उज्जैन के गर्द्धभिल्ल राजाको पदच्युत करनेवाले) अफगानिस्तान, पंजाब, सिंध आदि देशों में विचरे थे। उनका गच्छ "भावडा" था। उनकी वीर्यता, शौर्यता, चारित्रसंरक्षण और जैनशासनसंरक्षण के लिये अपने प्राणों पर भी खेल जाने को उद्यत रहने से प्रभावित होकर यहाँ के ओसवाल उनके अनुयायी हो गये थे, पश्चात् कालिकाचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के सिंध-पंजाब आदि में विचरते रहने से यहाँ के ओसवाल "भावडागच्छ" के अनुयायी बने रहे। विक्रम की १७ वीं १८ वीं शताब्दी से श्वेताम्बर जैन मुनिराजों का सिंध और पंजाब में विहार न होने के कारण ढूंढिया (स्थानकमार्गियों) के प्रभाव से ये स्थानकमार्गी बन गये थे। परन्तु प्राचीन समय से "भावडा" शब्द से आजतक ये लोग प्रख्यात रहे। आज के नये वातावरण के प्रभाव में आकर यहाँ के ओसवाल लोग अपने आपको जैन कहने लगे हैं और भावडा शब्द को विस्मृत कर गये हैं।

तक आपकी निश्रा में रहकर वह शास्त्राभ्यास व धर्म-ध्यान करता रहता था। इस वर्ष भाई मोहनलाल स्यालकोट में भाई सौदागरमल भावडे के पास जैनधर्म के शास्त्रों का अभ्यास करने के लिये आया हुआ था। उसने स्यालकोट के भाइयों के मुख से सुना कि "बूटेरायने साधुपना छोड दिया है। उसने मुखवस्त्रिका का त्याग कर दिया है और वह यति (पूज) हो गया है। प्रतिमा को मानने लग गया है" इत्यादि आपकी अनेक प्रकार की निंदा सुनी।

मोहनलाल ने कहा कि "ऋषि बूटेरायजी तो ऐसे पुरुष नहीं हैं कि वह कोई बिना विचारे काम करें। उनके त्याग-वैराग्य की उत्कृष्टता जगविख्यात है। सारे पंजाब में उनके चारित्र की उत्कृष्टता की तुलना करने में एक भी स्थानकमार्गी साधु-साध्वी दृष्टिगत नहीं होता और नहीं किसी का नाम सुनने में आया है।"

तब वे भाई बोले कि "कर्मों की गति बडी विचित्र है। पापकर्म के उदय से बडे-बडे संयमधारी भी पतित हो जाते हैं, तो बूटेराय किस बाग की मूली है (किस गिनती में है)! घडी में परिणाम कुछ के कुछ हो जाते हैं। पहले तो अच्छा ही था, अब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, वह संयम से विचलित होकर पथभ्रष्ट हो गया है, उसकी जैनधर्म पर श्रद्धा भी नहीं रही। यह जैनों (स्थानकमार्गी) के आचार्य, उपाध्याय तथा मुनियों आदि का निन्दक है। उनको निह्नव, कुलिंगी, अन्यलिंगी, मिथ्यादृष्टि कहता है। गुजरांवाला में बैठा है। यदि उसमें हिम्मत है तो एक बार यहाँ आवे, तब उसे आटे-दाल का भाव मालूम हो जावेगा" इत्यादि बातें सुनकर तपस्वी मोहनलाल भाई अवाक रह गया, उसके हृदय में एक हूक सी उठी

और चोट सी लगी। ठंडी सांस लेकर चुप हो गया। उसके हृदय में उथल–पुथल मच गई, उसे एक क्षण भी चैन न पडा।

कुछ देर के बाद तपस्वी मोहनलालजी बोले – ''यदि बूटेराय संयम से गिर गया है तो मैं उसे एक बार अवश्य मिलूंगा। यदि वह समझाने–बुझाने पर और उपदेश देने से सन्मार्ग पर आ जावे तो अच्छी बात है। एक बार तो मैं अवश्य ही प्रयत्न करूंगा।''

तपस्वी मोहनलालभाई स्यालकोट से चालीस मील पैदल चलकर[१] आपके पास गुजरांवाला में आ ही पहुँचा। आपके विषय में जो कुछ उसने सुन रखा था, बडे दुःखी दिल से कह सुनाया और मार्मिक शब्दों में आप से पुनः मुख पर मुँहपत्ती बाँधने के लिए आग्रह किया। परन्तु जब आपसे और गुजरांवाला के भाइयों से तपस्वीजी ने वस्तु–स्थिति को समझा तो उसे पता चला कि स्थानकमार्गियों की सब बातें तथा प्रचार अनर्गल हैं। अब तपस्वीजी ने भी जिनप्रतिमा पूजने तथा मुख पर मुँहपत्ती बाँधने के विषय में अनेक दिनों तक आपके साथ चर्चा की। अन्त में आपकी और तपस्वीजी की मान्यता, विचारधारा तथा श्रद्धा एक हो गई। अर्थात् वह भी आपकी मान्यता से सहमत हो गया।

फिर आपसे तपस्वीजी ने कहा– ''महाराजजी ! मैं एक बार फिर आपको साथ लेकर स्यालकोट जाना चाहता हूँ। यदि हम न जाएंगे तो वहाँ के लोग यही कहेंगे कि 'तपस्वी बूटेराय के बहकावे में आ गया है। यदि बूटेराय यहाँ आकर हमारे साथ चर्चा करे तो

१. उस समय रेलगाडी, मोटरें, साइकिल आदि सवारी के साधन कुछ न होने से लोग पैदल यातायात करते थे।

तुम को मालूम पड जाता कि कौन सच्चा है और कौन झूठा है ।' इसलिए आप कृपा करके एक बार मेरे साथ स्यालकोट अवश्य चलो ।''

आपने कहा कि ''वि० सं० १८९९ में स्यालकोट में ऋषि अमरसिंह तथा भाई सौदागरमल भावडे से चर्चा हो चुकी है । वे लोग सत्य वस्तु को मानने को तैयार नहीं हुए । इसलिए वहाँ जाकर चर्चा करने से कोई लाभ होनेवाला नहीं है ।''

तपस्वी ने कहा – ''स्वामीजी ! आप एक बार फिर मेरे साथ स्यालकोट अवश्य चलो । आपकी बडी कृपा होगी । चर्चा मेरे सामने हो जावे तो आपका इसमें क्या हर्ज है ?''

आपने कहा – ''तपस्वी ! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं अवश्य चलूंगा ।'' अब तपस्वी आपको साथ लेकर स्यालकोट में जा पहुँचा । वहाँ सौदागरमल भावडा बत्तीस सूत्रों का अच्छा जानकार था । उस के साथ आपकी मुँहपत्ती तथा प्रतिमा के विषय में कई दिनों तक चर्चा चलती रही । अन्त में वह निरुत्तर हो गया । फिर वह कहने लगा कि मैं कौनसे सूत्र पढा हुआ हूँ । हमारे गुरुओं के साथ चर्चा करो तो पता लगे । यदि स्थानकमार्गी साधु तुम्हारी बात को मान लेंगे तो हम लोग भी तुम्हारी श्रद्धा को मान लेंगे ।''

आपने सौदागरमल से कहा – ''हम दोनों की चर्चा तो तपस्वीजी आदि ने सुन ली है । जब तुम्हारे गुरु चर्चा करने के लिये आवेंगे तब देखा जावेगा । मैं तो इसके लिए भी सदा तैयार हूँ ।''

जिनप्रतिमा मानने और पूजने की चर्चा

सौदागरमल के साथ मुँहपत्ती तथा प्रतिमा– दोनों विषयों की चर्चा आपने की थी। क्योंकि मुँहपत्ती की चर्चा के विषय में इससे पहले लिखा जा चुका है; इसलिये उसका यहाँ पिष्टपेषण आवश्यक नहीं है। जिज्ञासु वहां से देख लें। अब जिनप्रतिमासम्बन्धी चर्चा संक्षेप से लिखेंगे।

सौदागरमल – स्वामीजी ! तीर्थंकर की मूर्ति मानना सर्वथा अनुचित है। इसकी पूजा से षट्काय के जीवों की विराधना (हिंसा) होती है। तीर्थंकर भगवन्तों ने आगमों में हिंसा को धर्म नहीं बतलाया। मूलागमों में मूर्ति को मानने का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिये आप जैसे मुमुक्षु मुनि को ऐसा उपदेश देना शोभा नहीं देता।

ऋषि बूटेरायजी – जैनागमों, सूत्रों, शास्त्रों के मूलपाठों में इन्द्रादि देवताओं, श्रावक–श्राविकाओं और साधु–साध्वीओं आदि सब सम्यग्दृष्टियों के द्वारा जिनप्रतिमा को वन्दन, नमस्कार, पूजन आदि के अनेक पाठ विद्यमान हैं। जिससे उन सब ने उत्तम फल की प्राप्ति की है। यहाँ तक कि केवलज्ञान पाकर मोक्ष तक प्राप्त किया है। जिसका बडे विस्तार पूर्वक वर्णन है। उनका विवरण संक्षेप से इस प्रकार है –

(अ) १– श्रीआचारांगसूत्र में प्रभु महावीर के पिता सिद्धार्थ राजा को श्रीपार्श्वनाथसंतानीय श्रावक कहा है। उसने जिनपूजा के लिये लाख रुपए खर्च किये और अनेक जिनप्रतिमाओं की पूजा की। इस अधिकार में **जायअ** शब्द आया है। इसका अर्थ 'देवपूजा' है।

२- श्रीसूयगडांगसूत्र की निर्युक्ति में श्रीजिनप्रतिमा को देखकर आर्द्रकुमार को प्रतिबोध हुआ और जब तक उसने दीक्षा ग्रहण नहीं की तब तक वह उस प्रतिमा की प्रतिदिन पूजा करता रहा।

३- श्रीसमवायांगसूत्र में समवसरण के अधिकार के लिये श्रीकल्पसूत्र का उदाहरण दिया है। इसीप्रकार श्रीबृहत्कल्पसूत्र के भाष्य में समवसरण के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसमें लिखा है कि समवसरण में अरिहंत स्वयं पूर्व दिशा सन्मुख विराजते हैं और दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तीन दिशाओं में उनके तीन प्रतिबिम्ब (जिनमूर्तियाँ) इन्द्रादि देवता विराजमान करते हैं। यहाँ आनेवाले तीर्थंकर को वन्दन करते है वैसे ही उनके प्रतिबिम्बों को भी वन्दन करते हैं।

४- श्रीभगवतीसूत्र में कहा है कि जंघाचारण मुनि नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वती जिन-प्रतिमाओं को वन्दन-नमस्कार करने के लिए जाते हैं।

५- श्रीभगवतीसूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों द्वारा जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

६- श्रीज्ञातासूत्र में द्रौपदी (पांडव राजा की पुत्रवधू)ने जिनप्रतिमा की सत्तरह-भेदी पूजा की तथा नमस्काररूप नमुत्थुणं का पाठ पढा, ऐसा वर्णन है।

७- श्रीउपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि दस श्रावकों के जिनप्रतिमा वंदन-पूजन का अधिकार है।

८- श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र में साधु द्वारा जिनप्रतिमा की वैयावच्च करने का वर्णन है।

९- श्रीउववाईसूत्र में बहुत जिनमन्दिरों का अधिकार है।

१०- इसी सूत्र में अंबड श्रावक के जिनप्रतिमापूजन का अधिकार है।

११- श्रीरायपसेणीसूत्र में सूर्याभदेवता के जिनप्रतिमा वांदने-पूजने का वर्णन है।

१२- इसी सूत्र में चित्र सारथी तथा परदेशी राजा (इन दोनों श्रावकों) के जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

१३- श्रीजीवाजीवाभिगमसूत्र में विजयदेवता आदि देवताओं के जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

१४- श्रीजम्बूद्वीप-पण्णत्ति में यमकदेवता आदि के जिन प्रतिमा पूजने का वर्णन है।

१५- श्रीदशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति में श्रीशय्यंभवसूरि को श्रीशांतिनाथजी की प्रतिमा को देखकर प्रतिबोध पाने का वर्णन है।

१६- श्रीउत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति के दसवें अध्ययन में श्रीगौतमस्वामी के अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने का वर्णन है।

१७- इसी सूत्र के २९वें अध्ययन में थय-थुई-मंगल में स्थापना को वन्दन करने का वर्णन है।

१८- श्रीनन्दीसूत्र में विशाला नगरी में मुनिसुव्रतस्वामी का महा-प्रभाविक थूभ (स्तूप) कहा है।

१९- श्रीअनुयोगद्वारसूत्र में स्थापना माननी कही है।

२०- श्रीआवश्यकसूत्र में भरतचक्रवर्ती के जिनमंदिर बनाने का वर्णन है।

२१- इसी सूत्र में वग्गुर श्रावक के श्रीमल्लिनाथ प्रभु के मन्दिर बनवाने का वर्णन है।

२२- इसी सूत्र में कहा है कि फूलों से जिनप्रतिमा को पूजने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

२३- इसी सूत्र में कहा है कि प्रभावती श्राविका (उदयन राजाकी पटरानी)ने अपने राजामहल में जिन मंदिर बनवाकर श्रीमहावीरप्रभु की जीवितस्वामी की मूर्ति स्थापित की थी और उसकी वह प्रतिदिन पूजा करती थी।

२४- इसी सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा प्रतिदिन १०८ सोने के यवों से जिनप्रतिमा का पूजन करता था।

२५- इसी सूत्र में कहा है कि साधु कायोत्सर्ग में जिनप्रतिमा के पूजन का अनुमोदन करे।

२६- इसी सूत्र में कहा है कि सर्व लोक में जो जिनप्रतिमाएं हैं उनकी आराधना के निमित्त साधु तथा श्रावक कायोत्सर्ग करे।

२७- श्रीव्यवहारसूत्र के प्रथम उद्देश में जिनप्रतिमा के सामने आलोचना करना कहा है।

२८- श्रीमहाकल्पसूत्र में कहा है कि श्रीजिनमंदिर में यदि साधु-श्रावक दर्शन करने को न जावे तो प्रायश्चित्त आवे।

२९- श्रीमहानिशीथसूत्र में कहा है कि श्रावक यदि जिनमंदिर बनवाये तो उत्कृष्टा बारहवें देवलोक तक जावे।

३०- श्रीजीतकल्पसूत्र में कहा है कि यदि श्रीजिनमंदिर में साधु-साध्वी दर्शन करने न जावे तो प्रायश्चित्त आवे।

३१- श्रीप्रथमानुयोग में कहा है कि अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने श्रीजिनमंदिर बनवाए और पूजा की ।

अतः चक्रवर्तियों, राजों-महाराजों, रानी-महारानियों, अविरति सम्यग्दृष्टि इन्द्र-इन्द्रानियों, देवी-देवताओं, देशविरति श्रावक-श्राविकाओं, पांच महाव्रतधारी साधु-साध्वीओं, जंघाचारण आदि लब्धिधारी मुनियों, गणधरों आदि सबके जैन आगमों में जिनमंदिर, जिनप्रतिमाएं बनवाने और उनकी पूजा-उपासना करने के बहुत प्रमाण विद्यमान हैं ।

इन सब प्रमाणों के लिये सूत्रपाठो को दिखलाकर आपने सौदागरमल का समाधान किया ।

(आ) जिनप्रतिमा के पूजन से हिंसा भी संभव नहीं है, परन्तु इसके द्वारा श्रीतीर्थंकर प्रभु की भक्ति से कर्मक्षय होने से मुक्ति की प्राप्ति होती है । तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वातिजी महाराज ने हिंसा का स्वरूप बतलाया है कि ''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा ।''[१] अर्थात् - प्रमादवश जीवों के प्राणों का नाश करना हिंसा

१. (१) न च सत्यपि व्यपरोपणे अर्हदुक्तेन यत्नेन परिहरन्त्याः प्रमादाभावे हिंसा भवति । प्रमादो हि हिंसा नाम । तथा च पठन्ति —

''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।'' [तत्त्वार्थ ७।८] इति

अन्यथा पिण्डोपधि-शय्यासु स्थान-शयन-गमनागमना-ऽऽकुञ्चन-प्रसारणा-ऽऽमर्शनादिषु च शरीरं क्षेत्रं लोकं च परिभुञ्जानो—

''जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥'' [तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५४१]

हिंसकत्वेऽपि अर्हदुक्तयत्नयोगे न बन्धः । तद्विरहे एव यत्नः । तथा च पठन्ति —

''मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स'' ॥ ३।१७ ॥

[कुन्दकुन्दाचार्यविरचिते प्रवचनसारे]

है। श्रीजिनप्रतिमा के पूजन में विषय, मद, विकथा, प्रमाद, कषाय आदि (प्रमत्त के इन पाँचों भेदों) का सर्वथा अभाव होता है। इसलिये जिनपूजा में हिंसा मानना अज्ञान है। मात्र इतना ही नहीं, परन्तु जो जिनप्रतिमापूजन में हिंसा मानते हैं वे जैन हिंसाहिंसा के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

"जयं तु चरमाणस्स दयाविक्खिस्स भिक्खुणो।
नवे न बज्झए कम्मे पोराणे य विधुयए॥
अजयं चरमाणस्स पाणभूयाणि हिंसओ।
बज्झए पावए कम्मे से होति कडुगे फले॥"

"अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः पर-प्राण-व्यपरोपो बहिरङ्गः। तत्र पर-प्राण-व्यपरोप-सद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभावि-प्रयताचारेण प्रसिध्यदशुद्धोपयोग-सद्भावस्य सुनिश्चित-हिंसा-भाव-प्रसिद्धेः। तथा तद्विनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिध्यद-शुद्धोपयोगासद्भाव-परस्य पर-प्राण-व्यपरोप-सद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या, सुनिश्चित-हिंसाऽभाव-प्रसिद्धेश्चाऽन्तरङ्ग एव छेदो बलीयान्, न पुनर्बहिरङ्गः। एवमप्यन्तरङ्गच्छेदायतनमात्रत्वाद् बहिरङ्गाच्छेदोऽभ्युपगम्यतैव॥ [प्रवचनसारस्य अमृतचन्द्रसूरिकृतायां वृतौ पृ० २९१-२९२]

अर्थात्- जीव के प्राणों का नाश होने पर भी श्रीअरिहंत प्रभु के कहे अनुसार यत्नपूर्वक (जयणा से) हलन-चलन आदि करने से प्रमाद के अभाव के कारण हिंसा नहीं होती।

प्रमाद ही हिंसा है। इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के आठवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि "प्रमाद के योग से जीव के प्राणों का नाश हिंसा है।"

यदि ऐसा न मानें तो मुनि-आर्यका (साधु-साध्वी, आहार, उपधि, शय्या आदि) में स्थान, सोने, आने-जाने, उठने, बैठने, शरीर आदि को सिकोडने-फैलाने, आमर्शना आदि में शरीर, क्षेत्र, लोक का परिभोग करने से सर्वथा हिंसा ही हिंसा होनी चाहिए?

तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर राजवार्तिकटीका पृष्ठ ५४१ में कहा है कि –

"जल में जीव-जन्तु हैं, स्थल में जीव-जन्तु हैं, और आकाश भी जीव-जन्तुओं से भरपूर है। जीव-जन्तुओं से भरे हुए चौदह राजलोक (सम्पूर्ण विश्व) में भिक्षु (साधु) अहिंसक कैसे?"

२- साधु-साध्वी चलते हैं, उठते-बैठते हैं, हलन-चलन करते हैं, श्वासोश्वास लेते हैं, खाते हैं, पीते हैं, टट्टी-पेशाब करते हैं; इन

यदि उठने, बैठने, चलने, फिरने आदि से जीवहिंसा हो भी जावे तो भी श्रीतीर्थंकर भगवन्तों के आदेशानुसार यत्नपूर्वक आचरण से बन्ध नहीं होता। अतः प्रमाद का त्याग ही यत्न है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है कि –

"जीव मरें अथवा जीवित रहें, अयत्नाचारी (प्रमादी) निश्चित रूप से हिंसक है तथा यत्न (जयणा-सावधानी) पूर्वक आचरण करनेवाले व्यक्ति को प्राणवध मात्र से बन्ध नहीं होता।" फिर भी कहा है–

"यत्नापूर्वक आचरण करनेवाले दयावान भिक्षु को नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्मों का नाश भी होता है।"

"अयत्नापूर्वक आचरण करनेवाले व्यक्तियों को प्राणियों की हिंसा का दोष है। वे नये पाप कर्मों का बन्ध भी करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप कडवे फल को भोगते हैं।"

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के उपर्युक्त संदर्भ की तत्त्वदीपिका नामक वृत्ति में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं- जिसका सारांश यह है –

हिंसा की व्याख्या दो अंशो में पूरी की गई है। पहला अंश है अन्तरंग प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेष युक्त किंवा असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति, और दूसरा बहिरंग- प्राणवध। पहला अंश कारणरूप है और दूसरा कार्यरूप है। इसका फलितार्थ यह होता है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्रमत्तयोग आत्मा के अशुद्ध परिणाम होने से इसके सद्भाव में प्राणवध हो या न हो तो भी हिंसा का दोष लगता है (रागद्वेष तथा असावधानी के बिना)। अप्रमत्तयोग (यत्नपूर्वक-जयणापूर्वक शुद्ध योग) से प्राणवध हो अथवा न हो तब हिंसा का दोष नहीं है।

कहा भी है कि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः"

अतः प्रमाद के अभाव में शुद्धोपयोग होने से यदि प्राणवध हो भी जावे तो हिंसा का दोष नहीं है।

(२) श्री गौतम-गणधरादि आचार्यों ने भी हिंसा-अहिंसा के स्वरूप के विषय में स्पष्ट कहा है कि –

सब कार्यो में प्राणीवध भी होता है। यदि मात्र प्राणीवध को हिंसा मानोगे, तो साधु-साध्वी का पाँच महाव्रतों को पालन करना सर्वथा

हिंसा का कारण प्रमाद है —

शरीरी म्रियतां मा वा, ध्रुवं हिंसा प्रमादिन: ।
सप्राणव्यपरोपेऽपि, प्रमादरहितस्य न ॥

अर्थात् शरीरधारी प्राणी मरे अथवा न मरे पर प्रमादी को निश्चय ही हिंसा होती है। यदि प्राणी का नाश कदाचित् प्रमादरहित (अप्रमादी) व्यक्ति से हो भी जावे तो उसे हिंसा का दोष नहीं लगता।

३- विशेष खुलासा - यदि कोई व्यक्ति प्रमाद (कषाय अथवा लापरवाही और उपयोगरहित) गमनागमन करे अथवा कोई अन्य काम करे तो उससे जीव चाहे मरे अथवा न मरे तो भी हिंसा लगती है। यदि अप्रमाद (जयणा तथा सावधानी) से कार्य अथवा गमनागमन करता है तो कदाचित् उससे जीववध हो भी जावे तो भी उसे भावहिंसा का दोष नहीं लगता।

दृष्टान्त - नदी में उतरनेवाले साधु-साध्वी को जयणापूर्वक पानी में उतरने पर भी अपकाय के जीवों की विराधना भावहिंसा का कारण नहीं। पानी के एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं। यदि सेवालवाला पानी हो तो उसमें अनन्त जीवों का विनाश भी होता है। यदि नदी में उतरनेवाला मुनि प्रमादी हो तो उसे भावहिंसा का दोष लगता है, अप्रमादी को नहीं लगता।

श्रीभगवतीसूत्र में कहा है कि केवलज्ञानी के गमनागमन से तथा उनके नेत्रों के चलनादि से बहुत जीवों का घात होता है, परन्तु उन्हें मात्र काययोग द्वारा ही इरियापथिक बन्ध होता है। ऐसा होने से वे प्रथम समय में बाँधते हैं, दूसरे समय में वेदते (भोगते) हैं और तीसरे समय में निर्जरा कर देते हैं।

इसी प्रकार जिनप्रतिमा की पूजा आदि में हृदय में दयाभाव तथा प्रभुभक्ति होने से यदि किसी सूक्ष्म जीवजन्तु का प्राणवध हो भी जाए तो उसे हिंसा का दोष नहीं लगता। परन्तु कषायरहित अप्रमत्त शुद्धभावों से प्रभु की भक्ति से महान उत्तम फल की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि सर्वथा कर्मक्षय होकर मोक्षप्राप्ति भी संभव है।

श्रीआचारांगसूत्र में कहा है कि —

"पमत्तस्स सव्वओ भयं अपमत्तस्स वि न कुतो वि भयमिति ॥

अर्थात् प्रमादी को सब भय हैं, परन्तु अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है।

असंभव हो जावेगा । तब आप की धारणा के अनुसार तो कोई साधु-साध्वी पाँच महाव्रतधारी ही न रहेगा । परन्तु आगमों में तो ये सब क्रियाएं करते हुए भी इन्हें पाँच महाव्रतधारी साधु कहा है और माना भी है । क्योंकि जैन आगमों में कहा है कि 'जयना'पूर्वक ये सब क्रियाएं करने में प्राणीवध यदि हो भी जावे तो साधु-साध्वी को हिंसा का दोष नहीं लगता । इसे महाव्रतधारी ही कहा है । क्योंकि 'जयना' से हिंसा नहीं है परन्तु प्रमाद से हिंसा है । यदि साधु प्रमाद-कषाय आदि रहित होकर जयनापूर्वक सब कार्य करता है तो वह महाव्रतधारी है, अहिंसक है । यदि अजयना (अयत्ना), प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष, असावधानी से करता है तो प्राणीवध न करते हुए भी हिंसक है, वह महाव्रतधारी नहीं है । इसी प्रकार यदि श्रीजिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा की जयनापूर्वक, अप्रमादी, अकषायी होकर पूजा की जाती है तो पूजा करनेवाले पूजक को हिंसक मानना श्रीतीर्थंकर प्रभु के सिद्धान्तों का अपलाप करना है ।

अतः हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को समझकर अपने हठाग्रह, कदाग्रह को छोडकर श्रीजिनप्रतिमा की सेवा-पूजा स्वीकार करके आप लोगों को आत्मकल्याण की ओर अवश्य अग्रेसर होना चाहिये इत्यादि ।

ऋषि बूटेरायजी महाराजने सौदागरमल भाई के द्वारा किये गये सब प्रश्नों का समाधान आगमपाठों, अकाट्य युक्तियों तथा तर्कपूर्ण दलीलों से किया । चैत्य, जिनप्रतिमा आदि शब्दों के अर्थ तीर्थंकर देवों के मंदिर, मूर्तियाँ, तीर्थ आदि होते हैं इसे आगम के पाठों से ही स्पष्ट सिद्ध किया । यदि इस चर्चा को विस्तार

से लिखा जावे तो ग्रंथ अधिक विस्तार का रूप धारण कर लेता। अतः संक्षिप्त लिखने में ही संतोष माना है।[१] यहाँ चर्चा समाप्त होती है।

जब चर्चा समाप्त हो गई तो सौदागरमल निरुत्तर हो गया परन्तु उसने अपना हठ-कदाग्रह न छोडा।

तब तपस्वी मोहनलालजी ने कहा कि "पूज्य गुरुदेव ! अब आप सुखपूर्वक विचरण करें। मैंने जो कुछ जानना था जान लिया और समझ लिया है।

गुरुदेव ! आपकी श्रद्धा सच्ची है। श्रीवीतराग सर्वज्ञ प्रभु के आगमानुकूल है। अब इस विषय में मेरे मन में कोई सन्देह नहीं रहा। आप मेरे धर्माचार्य हो और मैं आप का श्रावक हूँ।"

तब तपस्वी मोहनलालजी तो स्यालकोट में ही रहे और आप वहाँ से विहार कर गये। पिंडदादनखाँ, रावलपिंडी आदि अनेक नगरों में विचरते हुए चेले धर्मचन्द को साथ लेकर पुनः स्यालकोट पधारे। वहाँ जाकर धर्मचन्द का मन बदल गया, वह आपसे अलग हो गया और जिन टोले से आपके पास आया था उसी टोले में जा मिला। वह जाते हुए आपके दो हस्तलिखित ग्रंथ अपने साथ लेता गया। स्यालकोट में लोंकागच्छ का यति (श्रीपूज्य)

---

१. ग्रंथ के बढ जाने के भय से यहाँ पर जिनप्रतिमा के विषय में आगमों में आए हुए पाठों को तथा चैत्य, जिनप्रतिमा आदि शब्दों के अर्थ जिनमंदिर, तीर्थंकर की मूर्ति और तीर्थ होते हैं; इसका विस्तार नहीं लिखा। विशेष जिज्ञासु हमारी (हीरालाल दूगड) द्वारा लिखी हुई "जिनप्रतिमापूजन रहस्य तथा स्थापनाचार्य की अनिवार्यता" नामक पुस्तक को अवश्य पढकर जिज्ञासापूर्ति करने की कृपा कर लें।

रामचन्द्र[१] अच्छा विद्वान था तथा जिनप्रतिमा, जिनमंदिरों, जिनतीर्थों का श्रद्धावान भी था । वह पूर्वदेश में पावापुरी, चम्पापुरी, सम्मेतशिखर, राजगृही, गुणायाजी, क्षत्रीयकुंड, कुंडलपुर, बनारस आदि की तथा गुजरात-सौराष्ट्र में गिरनार, सिद्धाचल, आबू, अचलगढ, तारंगा, राणकपुर, केशरियानाथजी आदि तीर्थों की यात्राएं भी कर चुका था ।

जो चेला आपकी हस्तलिखित प्रतियाँ ले गया था वे प्रतियाँ यतिजी ने उससे लेकर आपके पास वापिस भेज दीं । श्रीपूज्य (यतियों के आचार्य) रामचन्द्रजी स्यालकोट में आपसे कई बार मिलने आते रहते थे । यतिजी ने सारे सूत्र-सिद्धान्तों, ग्रंथो, आगमों का अवलोकन किया, पर किसी जगह भी मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने का प्रमाण न मिला । वह आपके साथ जिनप्रतिमा तथा मुँहपत्ती के विषय में चर्चा भी करता रहता था । अन्त में आपसे वार्तालाप आदि करके उसने यह निर्णय किया कि मुँहपत्ती में डोरा डालकर चौबीस घंटे मुँह पर बाँध रखना जिनाज्ञा के अनुकूल नहीं है । यही कारण है कि ऋषि बूटेरायजी ने मुँहपत्ती का धागा तोड दिया है और वह अब मुँहपत्ती को हाथ में रखते हैं । इसलिये यही शास्त्रसम्मत है । पूज्य बूटेरायजी महाराज ऐसी प्ररूपणा भी करते हैं कि शास्त्रों में जिस सोमल सन्यासी का मुँह बाँधने का वर्णन आता है, वह अन्यलिंगी (जैनधर्मी नहीं) था । इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मुखबन्धामत अन्यलिंगियों (जैनेतरों के किसी संप्रदाय

१. इस श्रीपूज्य के उपाश्रय में जिनप्रतिमाएं भी बिराजमान थीं, जिनकी वह पूजा-सेवा भी करता था । इसके देहांत के बाद स्थानकमार्गियों ने प्रतिमाएं यहाँ से उत्थापित करके कहीं गायब कर दीं और यतिजी के उपाश्रय पर अपना अधिकार जमा लिया ।

विशेष) का है। स्वलिंगी (जैनधर्म का) नहीं है। यह जानकर श्रीपूज्य रामचन्द्रजी ने निश्चय किया कि हमारे लोंकागच्छीय यति आज से मुँह पर मुँहपत्ती बाँधकर न तो व्याख्यान करेंगे और न ही सामायिक और प्रतिक्रमण आदि करेंगे। खेद का विषय है कि यह पंचमकाल और हुण्डा अवसर्पिणी का प्रभाव है। श्रीमहानिशीथ-सूत्र में वर्णन आया है — श्रीमहावीर प्रभु फरमाते हैं — "है गौतम ! जब मेरे निर्वाण को साढे बारह सौ वर्ष बीत जावेंगे, तब अपनी स्वकल्पना से मेरे शासन में कई मतमतांतर हो जावेंगे। कोई विरला ही समण, श्रमण, माहण होगा।" जैनागमों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि स्थानकमार्गी (जिनके ढूंढिये, बाइसटोला, स्थानकवासी श्रमणोपासक, साधुमार्गी, लुंकापंथी पर्यायवाची नाम हैं) साधुओं का वेष और आचार आगमानुकूल नहीं हैं।

ऐसा निश्चय कर स्यालकोट के लोंकागच्छीय श्रीपूज्य रामचन्द्रजी ने जहाँ जहाँ उनके अनुयायी यति (पूज) थे, उन सबके नाम आज्ञापत्र लिखकर अपने मुख्य श्रावकों द्वारा उनके पास पहुँचा दिये।[१] उन चिट्ठियों में यह लिखा था कि -

"हमने आगमों को अच्छी तरह से अवलोकन करके इस बात को भलीभाँति जान लिया है कि मुख पर मुखपत्ती बाँधना श्रीवीतराग केवली प्रभु की आज्ञा के अनुकूल नहीं है। अतः तुम लोगों ने मुँहपत्ती बाँध कर व्याख्यानादि नहीं करना तथा सब धर्मक्रियाएं आदि मुँहपत्ती को हाथ में लेकर अपने मुख के आगे

१. इस समय रेल तथा तार द्वारा पत्र भेजने की कोई व्यवस्था नहीं थी। सब चिट्ठियाँ ग्रामांतर में आने-जानेवालों के साथ अथवा किसी व्यक्ति को भेजकर पहुंचायी जाती थी।

रखकर ही किया-कराया करें। यह मेरी आज्ञा है।" श्रीपूज्यजी की आज्ञा से उनके अनुयायी सब यतियोंने स्वीकार करके मुंहपत्ती को मुख पर बाँधने का त्याग कर दिया तब सारे पंजाब में सबके सामने यह बात प्रत्यक्ष हो गई कि सत्य वस्तु क्या है ?

ऋषि बूटेरायजी स्यालकोट से विहार कर रामनगर पहुँचे। वहां प्रेमचन्दजी तथा मुनि मूलचन्दजी दोनों चेले पहले ही पहुँच चूके थे। आप तीनों वहाँ इकट्ठे हो गये और चार दिन वहां स्थिरता करके गुजरांवाला की तरफ विहार कर गये। रास्ते में गोंदलाँवाला, किला-दीदारसिंह, पपनाखा में होते हुए गुजरांवाला पहुँचे। मूलचन्दजी को गुजरांवाला में लाला कर्मचन्दजी दूगड से जैनागमों आदि का अभ्यास करने के लिये छोडकर आपने प्रेमचन्दजी के साथ पटियाला की तरफ विहार कर दिया। विहार करते हुए मालेरकोटला में पहुँचे। यहाँ से आपका विचार दिल्ली जाने का हुआ। मालेरकोटले से विहार कर पटियाला पहुँचे। मुनि प्रेमचन्दजी भी आपके साथ थे।

उत्कट विरोध का डटकर मुकाबिला

पटियाला में ऋषि अमरसिंहजी के गुरुभाई ने साठ-सत्तर उपवास की तपस्या की थी और वह तपस्या में ही कालधर्म पा गया था। उसके शव-महोत्सव पर बहुत क्षेत्रों के हजारों की संख्या में स्थानकमार्गी श्रावक-श्राविकाएं तथा बहुत संख्या में साधु-आर्यकाएं भी यहां एकत्रित हुए थे। उस समय आप भी अपने चेले प्रेमचन्दजी के साथ यहाँ आ पहुँचे। यहाँ सबके मुँह में आपकी ही चर्चा थी। आपके विरोध के लिये वे सब आपे से बाहर हो रहे थे। आपने सोचा कि "हमारा यहाँ ठहरना खतरे से खाली नहीं है,

इसलिये यहाँ से शीघ्र ही प्रस्थान कर जाना चाहिए। कारण यह है कि यहाँ स्थानकमार्गी हजारों स्त्री-पुरुष और सैंकडो साधु-आर्यकाएं उपस्थित है और इस समय ये लोग हमारे विरोध में आपे से बाहर हो रहे हैं। हम दोनों इस समय सुरक्षित नहीं हैं। यहाँ रहने से हमें बहुत उपसर्ग तथा उपद्रव होंगे।" अतः आप पटियाला से आहार-पानी लेकर यह निश्चय कर आगे को चल दिये कि रास्ते में किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर आहार-पानी कर लेंगे और कल को अम्बाला पहुँच जावेंगे।

जब उन लोगों को यह पता लगा कि हाथ आया शिकार बचकर निकल गया और हमारा दाव खाली गया तो वे लोग बडे सोच-विचार में पड गये। उन लोगों ने एकत्रित होकर यह निर्णय किया कि "इन दोनों को जैसे भी बने वैसे एक बार यहाँ अवश्य लाना चाहिये। यहाँ आ जाने पर इनको मुँहपत्ती बाँधने के लिये बाध्य करना चाहिये। यदि किसी भी प्रकार से न मानें तो घेरकर साधु का वेष उतार लेना चाहिये और नंगा करके निकाल देना चाहिये। हम लोग हजारों की संख्या में हैं, एक-एक घूंसा भी मारेंगे, तो दोनों मरकर ढेर हो जावेंगे। वे हमारे सामने चूं न कर सकेंगे। वे या तो राहे-रास्त (सन्मार्ग) पर आ जावेंगे अथवा जान बचाकर नौ दो ग्यारह हो जावेंगे।"

तब बीस-पच्चीस भाई आपके पीछे भागे और आप दोनों को रास्ते में आ घेरा। आपके पास आकर बडी नम्रता और विनयपूर्वक वन्दना की और बोले - "स्वामीजी! आप इस क्षेत्र को छोडकर क्यों जा रहे हैं? आप वापिस पटियाला नगर पधारने की कृपा करें। यहाँ आपको ठहरने में किसी प्रकार की असुविधा न होगी। इन लोगों के

आपसे अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर हुए, उन लोगों ने आपको सब प्रकार से तसल्ली कर दी, दम-दिलासा दिया, चापलूसी भी की और सब प्रकार से विश्वास दिलाकर आपको वापिस पटियाला ले गये ।

जब आपने पटियाला नगर में प्रवेश किया तो रास्ते में लोग आपकी तरफ घूर-घूर कर देख रहे थे, आपस में कानाफूंसी कर रहे थे । ऐसा देखकर आपने सोचा कि यहाँ हमें उपसर्ग अवश्य होगा ! जो होगा देखा जायेगा-अब फंस तो गये ही हैं, जो होगा सामने आ जावेगा । घबराने का कोई काम नहीं है ।

आप दोनों एक स्थानक में जाकर ठहर गये, वहाँ आहार-पानी किया । आहार-पानी करके अभी आप बैठे ही थे, तो इतने में स्थानकवासी बीस-पच्चीस साधु और लगभग चार सौ गृहस्थों ने आप दोनों को आ घेरा । उनमें से एक साधु का नाम था 'गंगाराम'[१] । वह अपने आपको महापंडित, विद्वान, शास्त्रों का जानकार मानता था । वह बोला —

"बूटेरायजी ! यदि आप सूत्रों को मानते हो, तो आचार्य का कहना भी मानना चाहिये, सो उनका कहना क्यों नहीं मानते हो ?" तब आपने कहा कि "मैं सूत्र भी मानता हूँ और आचार्य का कहना भी मानता हूँ । परन्तु गंगारामजी ! आप क्या कहना चाहते हो सो कहो ?" तब वह बोले —

"यदि तुम आचार्य का कहना मानते हो तो अपने गुरु का वचन मानो । तुम्हारा गुरु नागरमल्ल था । वह मुख पर मुँहपत्ती बाँधता था और प्रतिमापूजन को नहीं मानता था । तुम उसके

१. यह आत्माराम (विजयानन्दसूरि)जी की स्थानकमार्गी अवस्था का दादागुरु था ।

विरुद्ध क्यों मानते हो ? इसलिये तुमको ऐसा करना उचित नहीं है। ऐसा करने से गुरु की आज्ञा का उल्लंघन तथा मृषावाद का दोष लगता है। इससे तुम निह्नव और मृषावादी होने से पतित साधु माने जाओगे। मात्र इतना ही नहीं, तुम मिथ्यादृष्टि गृहस्थ की कोटि में आ जाओंगे।''

तब आपने कहा – ''मुझे नागरमल्लजी ने यह सिखलाया है कि –

''अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो,
जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मे गहियं ॥''

अर्थात् सुदेव अरिहंत, सुसाधु गुरु तथा जिनेश्वर प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म (सुधर्म) को जीवनपर्यन्त मैंने ग्रहण किया है।

ये तीन तत्त्व ग्रहण करने के लिये मुझे भी नागरमल्लजी ने सिखलाया है। सो उनको मैं मानता हूं। ये मुझे स्वीकार हैं। इसमें सूत्रों तथा गुरु की आज्ञा को मानना दोनों ही आ जाते हैं और जो इन लक्षणों के विरुद्ध हैं वे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मुझे मान्य नहीं हैं।''

यह सुनकर गंगाराम झूंझला उठा और बडे जोश में आकर वहां उपस्थित भाइयों को ललकार कर कहने लगा ''भाइयो ! यदि यह बूटेराय मुँहपत्ती बाँध ले तो ठीक है, नहीं तो इसका साधुवेष उतार लो और मार-पीटकर धक्के देकर यहां से इसे निकाल भगाओ।'' इस प्रकार आंखें लाल करके अण्ट-शण्ट बकने लगा।

तब उनमें से एक भाई जिसका नाम 'बनातीराम' था, वह वहाँ उपस्थित साधु-साध्वीयों तथा भाइयों से संबोधित करता हुआ कहने लगा कि ''क्या तुम लोग चर्चा करने आये हो अथवा दंगा-

फिसाद ? देखा तुम्हारा साधुपना ! जाओ अपने ठिकाने पर जाकर बैठो। देख ली तुम्हारी विद्वता !"

तब गंगाराम खिसिया सा गया और अपने साधुओं से कहने लगा कि "बूटेराय यहाँ बहुत बार आता रहता है इसलिये यहाँ के लोग पहले से ही इसके अनुरागी हैं । यही कारण है कि यहाँ पर इसका वेष कोई भी उतारने नहीं देता और न ही कोई इसका गला दबोचने का साहस करता है । इसलिये यहाँ पर न तो यह ऐसे मानने ही वाला है और न ही इसका वेष छीनने का कोई साहस कर सकता है। अब यहाँ से यह अम्बाला जा रहा है। पहले तो वहाँ के भाई इसके अनुयायी थे। अब वहाँ इसके बहुत विरोधी हो चुके हैं। इसलिये हमें वहाँ पहले पहुँचकर इसके विरोध का वातावरण तैयार करना चाहिये और श्रावको तथा वैश्नवों को इसे रास्ते पर लाने के लिये तैयार करना चाहिये। फिर उनको कहेंगे कि तुम लोग बूटेराय को सीधा करो। यदि वहां के भाई हमारा साथ देंगे तो काम बनने में देरी नहीं लगेगी।" ऐसा निश्चय करके गंगाराम आदि बहुत से साधु-साध्वीयों ने अम्बाला शहर में जाकर डेरे डाल दिये और वहाँ पहुँचकर आपके विरुद्ध लंगर-लंगोटे कसकर आपकी वाट देखने लगे।

आप दोनों गुरु-चेले ने चार-पाँच दिन पटियाला में स्थिरता कर अम्बाला की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जब आप अम्बाला के समीप पहुँचे, तो आपके चेले मुनि प्रेमचन्द ने आपसे कहा - "गुरुदेव ! हम लोगों को अम्बाला शहर में नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ जाने से हमें उपद्रव और उपसर्ग होने की संभावना है । इसलिये हमें अम्बाला-छावनी जाकर ही ठहरना

चाहिये ।" आपने कहा – "हमें बाहर–बाहर से ही निकल जाना अच्छा नहीं लगता । हमें अम्बाला शहर में अवश्य ही जाना चाहिये । डरने की क्या बात है ? ऐसे उपसर्गों और परिषहों से डर जाने से हम सद्धर्म की प्ररूपणा कैसे कर पायेंगे ? मैं जानता हूं कि इस समय सारां पंजाब स्थानकमार्गियों का अनुयायी है । चारों तरफ हमारा विरोध करने के लिये इन लोगों ने लंगर–लंगोटे कसे हुए हैं । सर्वत्र हमारा वेष छीनकर मार भगाने के मनसूबे बनाये जा रहे हैं । पर इससे भयभीत होकर घबरा जाने से काम न बनेगा । यदि मिथ्यात्वांधकार को छिन्न–भिन्न कर सद्धर्म के प्रकाश को फैलाना और उसका संरक्षण करना है तो हमें कमर कसकर डट जाना चाहिये । प्रभु श्रीमहावीरस्वामी ने इसी सद्धर्म की प्ररूपणा के लिये क्या परिषह और उपसर्ग नहीं सहे थे ? उनकी तुलना के सामने हमें होनेवाले उपसर्ग–परिषह तो नगण्य हैं, कुछ भी नहीं है ।"

पर श्रीप्रेमचन्दजी शहर जाने को राजी नहीं हुए । जब आपने उसका दिल कच्चा देखा, तो उसे कहा कि "प्रेमचन्द ! तुम अम्बाला–छावनी चले जाओ, वहां जाकर ठहरो; मेरा इन्तजार करना । मैं अम्बाला शहर में अकेले ही जाऊँगा । दो–तीन दिन बाद मैं भी छावनी पहुँच जाऊँगा ।"

प्रेमचन्द को अम्बाला–छावनी भेजकर आप अम्बाला शहर में जा पहुँचे और स्थानक में जाकर ठहर गये । शहर से गोचरी लाकर आहार–पानी किया ।

उधर ऋषि गंगाराम आदि अपने दल–बल के साथ कुछ दिन पहले ही अम्बाला शहर में पहुंच चुके हुए थे । उसने यहाँ के श्रावक भाई **मोहोरसिंह** को अपने पास स्थानक में बुलाया । यह

भाई थोकडे, बोल, विचार तथा बत्तीस सूत्रों का जानकार था और जब आप साधुमार्गी थे तब से ही आपका अनुरागी था। उससे इसने और इसके साथ सब साधुओं ने कहा कि "तुम बूटेराय के अनुरागी हो, इसलिये उसके पास जाकर उसे समझाओ कि मुँहपत्ती बाँध ले, नहीं तो फजीता होगा।"

तब भाई मोहोरसिंह आपके पास आया और वन्दना-नमस्कार करके आपके सामने बैठ गया। तथा बडी नम्रता के साथ हाथ जोडकर आपसे कहने लगा "गुरुजी ! आपने बहुत खोटा काम किया है, अपनी इज्जत-आबरू पर भी पानी फेर दिया है और हमें भी नीचा दिखलाया है।"

आपने कहा - "भाई ! मैंने कोई चोरीजारी तो नहीं की ! मुँहपत्ती का धागा ही तो छोडा है। यदि कोई भी मुझे मुँहपत्ती में डोरा डालकर मुँह पर चौबीस घंटे बाँधे रखने का जैनागमों में सूत्रपाठ दिखला देवे तो मैं फिर बाँध लूंगा।" जो सत्याग्रही होता है वह हठाग्रही, कदाग्रही अथवा उच्छृंखल कदापि नहीं होता।

तब भाई मोहोरसिंह के साथ आपकी चर्चा जिनप्रतिमा मानने और मुँहपत्ती को मुँह पर न बाँधने के लिये हुई। वह बोला - "गुरुजी ! आपकी बात तो सर्वथा सत्य है, आजतक तो हम भूले ही रहे। परन्तु इस सच्चाई को अपनाने में आपको बहुत-बहुत मुसीबतें उठानी पडेंगी। नाना प्रकार के परिषह, उपसर्ग, अवहेलना, अपमान बहुत कुछ सहन करने पडेंगे। यदि हम लोग भी प्रत्यक्ष में आपकी श्रद्धा को स्वीकार करके आपका साथ देंगे, तो हम लोगों को यहाँ का समाज बहिष्कार करने की धमकियाँ दे रहा है। बाहर के सगे-सम्बन्धी भी हमसे नाराज होकर हमारा साथ छोड देंगे। ये

सब बातें आप अच्छी तरह से सोच-समझ लीजिये ! पर मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि अब आपको मुँहपत्ती बाँधनी नहीं चाहिये। यदि बाँधोगे तो लोग यही कहेंगे कि "बूटेराय झूठा था तभी तो इसने फिर मुँहपत्ती बाँध ली है। सच्चा होता तो क्यों बाँधता ?" आप जैसे सत्यवीर महापुरुष विरले ही होते हैं।"

इस प्रकार मोहोरसिंह आपकी श्रद्धा तथा निश्चय का समर्थन करके अपने साधुओं के पास जाकर कहने लगा कि- "मैंने बूटेराय को बहुत समझाया है। नम्रता से भी समझाया है, कठोर शब्दों में भी कहा है, पर वह बडा हठी है, अपने निश्चय पर अडिग है। थोडा भी टस से मस नहीं हुआ। मैं हार थककर अपनी दुकान पर चला गया था, अब क्या करना ?" साधुओं ने कहा कि "पक्का हठी है और जिद्दी है। यह नरमाई से माननेवाला नहीं है। अब तो सख्ती से ही काम लेना चाहिये। इस बार यह शिकार हमारे हाथ से छूटने न पावे। इसका वेष उतार कर एकदम बाहर निकाल देना चाहिए। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है।"

दूसरे दिन अम्बाला शहर में उपस्थित स्थानकवासी सब साधु-साध्वीयां एक स्थानक में एकत्रित हुए। उन सबने अपने-अपने रागी श्रावकों को बुलाकर एकत्रित किया। इस विराट संमेलन में सबने मिलकर एकमत होकर निर्णय किया कि "बूटेराय को कल प्रातःकाल ही प्रतिक्रमण करते हुए जा दबोचो। यदि मुँहपत्ती बाँधना मान लेवे तो ठीक है, नहीं तो उसके वेष को छीनकर नंगा करके मार-पीटकर बाहर निकाल भगा देवेंगे।"

यह निर्णय सुनकर मोहोरसिंह, सरस्वतीदास आदि जिन भाइयों का आपसे अनुराग था, उन सबने एकांत में मिलकर सोचा

कि "यह बात अच्छी नहीं है । कल प्रातःकाल ये सब मिल कर बडा भारी उपद्रव करेंगे । यदि हम बूटेराय का पक्ष लेंगे तो हमारी दाल न गल पायेगी । ये तो बहुत हैं और हम इतने थोडे हैं कि आटे में नमक बराबर भी नहीं है । इनके सामने हमारी कुछ पेश न जावेगी । हमें पुजेरे-पुजेरे (मूर्तिपूजक-मूर्तिपूजक) कहकर इस क्षेत्र में तथा अन्य क्षेत्रों में हमारी इज्जत-आबरू पर पानी फेर देंगे । हमारा यहाँ रहना दूभर हो जावेगा । बूटेराय ने तो यहाँ बैठे नहीं रहना, हमने तो यहीं रहना है । समुद्र में रहकर मगरमच्छ से वैर-विरोध करने से हमारी ही हानि है । यदि बूटेराय के साथ कोई दुर्घटना हो जावेगी तो यह भी बडा अनुचित है । संघ में वैर-विरोध की आग भडक उठेगी, संघ में परस्पर फूट पड जाने से कोई भी साधु-साध्वी हमारे नगर में नहीं आवेगा । इससे हमें धर्मध्यान में विरह पड जावेगा । इसलिए अभी रात को ही बूटेरायजी को जाकर कहना चाहिये कि आपको प्रातःकाल में सूर्य उदय होने से दो घडी पहले ही तडके यहाँ से विहार कर जाना चाहिए और शहर से बाहर जाकर जहाँ पर यहाँ के लोगों को पता न लगने पावे, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया करनी चाहिये ।" ऐसा निश्चय करके ये भाई रात को ही आपके पास आये और वन्दना-नमस्कार करके हाथ जोडकर गद्गद् स्वर में बोले —

"गुरुदेव ! हम तो आपके परम भक्त हैं, किन्तु हमारा यहाँ कोई बस नहीं चल रहा है ।" इस प्रकार इन लोगों ने आपसे षड्यंत्ररचना की सब कहानी कह सुनाई ।

तब आपने कहा - "भाइयों ! डर के मारे भयभीत होकर हम कहाँ-कहाँ भागते-छिपते फिरेंगे ? और कहाँ तक बच पावेंगे ? यदि

तुम लोग यह मानते हो कि 'हम बूटेराय के अनुयायी हैं, अनुरागी है, परम भक्त हैं, अटूट श्रद्धा है'; तो जब हमारा वेष छीनने के लिये वे सब मिलकर आवेंगे तब तुम लोग मत आना। जब वे लोग मेरा वेष उतारेंगे तब मैं स्वयं संभाल लूंगा। चिंता की कोई बात नहीं है। राज तो अंग्रेज का ही है। इन लोगों का तो नहीं हैं। कोई तो माई का लाल इनकी भी पूछनेवाला निकल ही आवेगा, जो यह सोचेगा कि मैंने क्या अपराध किया है जो मेरा वेष छीना जा रहा है। सब झूठ-सच का निर्णय हो जावेगा। जो कुछ होगा, सामने आवेगा तब देख लेंगे। अभी तो कुछ हो नहीं रहा। इसलिए घबराने की कोई बात नहीं है।

तुम लोग अपने साधुओं और भाइयों को जाकर कह दो कि बूटेराय तुम्हारी गीदड भभकियों से नहीं डरता। तुम अपने घर को मजबूत करके वेष छीनने को आना। कहीं ऐसा न हो कि तुम लोगों को लेने के देने पड जावें।"

आपके उत्तर के समाचार पाकर वे लोग विचार में पड गये और वेष छीनने का विचार टल गया। यह उपसर्ग तो टल गया, तब उन लोगों ने चर्चा (शास्त्रार्थ) करने का निर्णय किया। दूसरे दिन ये स्थानकमार्गी सब साधु-साध्वीयाँ और श्रावक-श्राविकायें स्थानक में जमा हो गये। आपको चर्चा के लिये निमन्त्रण भेज दिया। निमन्त्रण पाते ही आपश्री चर्चा के लिये उनके स्थानक में जा पहुँचे।

चर्चा चालु हो गई। ऋषि गंगारामजी ने कहा कि-"गौतमस्वामी के मुख पर मुँहपत्ती बँधी हुई थी।" परंतु आप अभी कुछ बोल ही न पाये थे कि आपके उत्तर की प्रतीक्षा किये

बिना ही इनमें से एक भाई रत्नचन्द बोल उठा–कहने लगा कि "यह बात सर्वथा झूठी है । क्यों मिथ्या बोलते हो कहते हो गौतमस्वामी ने मुखपत्ती बाँधी थी ? परन्तु उन्होंने मुखपत्ती नहीं बाँधी थी । मुँहपत्ती तो बाद में किसी आचार्यने बाँधी है और उसने गुण समझ कर ही तो बाँधी होगी ? इसलिये बाँधनी उचित है ।" यह भाई इन लोगों में बहुत बडा विद्वान पंडित–शास्त्री माना जाता था ।

आपने कहा– "तुम कहते हो कि किसी आचार्य ने गुण समझ कर बाँधी होगी । यदि मुँहपत्ती बाँधने में गुण होता तो, गणधरों, पूर्वाचार्यों, गीतार्थों, श्रुतकेवलियों, चतुर्दश–पूर्वधारियों आदि मुनिराजों ने क्यों नहीं बाँधी ? क्या मुख पर मुँहपत्ती बाँधनेवाले साधु–साध्वीयों, गणधरों, श्रुतकेवलियों, पूर्वाचार्यों, गीतार्थों से अधिक ज्ञानवान और बुद्धिवान हैं अथवा विशिष्ट ज्ञानी है ? ऐसा तो तुम भी नहीं मानोगे ? ऐसी चतुराई तो कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा और न ही कोई इस चतुराई की प्रशंसा ही करेगा । हम तो वही मानेंगे जो तीर्थंकरों, गणधरों, श्रुतकेवलियों ने कहा है और हमें वही प्रमाण है । आगमों में तीन लिंग कहे हैं– १–स्वलिंग, २–अन्यलिंग, ३–गृहलिंग । जो वेष जैन मुनि के लिये आगमों में फरमाया है वह वेष उसे धारण करनेवाला 'स्वलिंगी' है । गृह में रहनेवाला व्यक्ति जिस वेष को स्वीकार करता है वह 'गृहलिंगी' कहलाता है । इन दोनों को अतिरिक्त जितने भी वेषधारी हैं वे सब 'अन्यलिंगी' हैं । ऐसा आगमों में श्रीगणधरदेवों ने फरमाया है । साधुओं में मुखखुला लिंग तथा मुखबंधा लिंग दोनों प्रत्यक्ष जुदा लिंग हैं । इन दोनों में 'स्वलिंग' किस को मानना यह

बतलाओ ? जैनागमों-शास्त्रों में मुहपत्ती बाँधने का वर्णन तो है नहीं । इससे यह स्पष्ट है कि मुखपत्ती मुँह पर बाँधना जैनशास्त्रसम्मत मुनि का वेष नहीं हैं । जो साधु जैन-शास्त्र-सम्मत वेषधारी है उन्हें शास्त्रों ने स्वलिंगी कहा है । गृहस्थ के वेष में गृहलिंगी कहा जाता है । इन दोनों के सिवाय जितने भी लिंगी है वे सब अन्यलिंगी हैं । तो आप ही बतलाइये मुखबंधा कौनसा लिंग है ? अब कहो कि जैनशास्त्रविपरीत मुखबंधे वेषधारियों को स्वलिंगी मानना नितान्त मिथ्यात्व का उदय है या नहीं ?" यह चर्चा-वार्ता पांच दिनों तक चलती रही ।

तब वे स्थानकमार्गी साधु और भाई कहने लगे - "छोडोजी चर्चा को । इससे राग-द्वेष बढता है ।" इस प्रकार चर्चा का भी अन्त आ गया ।

अब आप अम्बाला शहर से विहार कर अम्बाला-छावनी गये और प्रेमचन्द को साथ लेकर जमुना पार जाकर वि० सं० १९०४ (ई० स० १८४७) का चौमासा बामनौली-जिला मेरठ (उत्तर प्रदेश) में जा किया । चौमासे उठे आप गुरु-शिष्य दिल्ली आये । यहां एक महीना रह कर पंजाब की तरफ विहार किया और ग्रामानुग्राम विचरते हुए वि० सं० १९०५ (ई० स० १८४८) का चौमासा रामनगर में किया । इस चौमासे में आपने कृपाराम भावडा तथा जीवनमल अरोडा को प्रतिबोधित किया । यहाँ पर दिल्ली के भाई आये और आपसे विनती की कि "गुरुदेव ! आप दिल्ली पधारो । वहाँ से आपश्री की निश्रा में श्रीहस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा करने के लिये संघ निकालना है ।" उनकी विनती को ध्यान में रखते हुए आप दोनों ने चौमासे उठे दिल्ली की ओर विहार कर दिया । ग्रामानुग्राम विचरते

हुए आप दिल्ली जा पहुँचे । वहाँ से श्रीसंघ के साथ श्रीहस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा करने गये । वहाँ से वापिस आकर वि० सं० १९०६ (ई० स० १८४९) का चौमासा दिल्ली में किया ।

चौमासे उठे आपने फिर पंजाब की तरफ विहार किया । अम्बाला, सामाना, साढौरा, मालेरकोटला, पटियाला, लुधियाना, होशियारपुर, जालंधर, जंडियाला गुरु, अमृतसर, लाहौर और रामनगर आदि अनेक ग्रामों और नगरों में विचरण करते हुए आप पिंडदादनखाँ पधारे और वि० सं० १९०७ (ई० स० १८५०) का चौमासा वहीं किया । चौमासे उठे रावलपिंडी, भेहरा, रामनगर, किला-दीदारसिंह, पपनाखा होते हुए आप और मुनि प्रेमचन्दजी गुजरांवाला पधारे । यहाँ कुछ समय व्यतीत करके अपने शिष्य मुनि मूलचन्दजी को (जो वि० सं० १९०३ से सं० १९०८ तक लगातार छह वर्षों तक गुजरांवाला में लाला कर्मचन्दजी दूगड शास्त्री से शास्त्रों का अभ्यास कर रहे थे) साथ में लेकर विहार किया और ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पानीपत पधारे । यहाँ मुनि प्रेमचन्दजी को छोडकर और मुनि मूलचन्दजी को अपने साथ लेकर दिल्ली पधारे । यहाँ आपने रामनगर के कृपाराम बीसा ओसवाल गद्दिया गोत्रीय और जीवनमल अरोडा को दीक्षाएं देकर दोनों को अपना शिष्य बनाया । दीक्षाएं वि० सं० १९०८ आषाढ सुदि-१३ (ई० स० १८५१) को हुई । नाम वृद्धिचन्द तथा आनन्दचन्द क्रमशः रखे । वि० सं० १९०८ (ई० स० १८५१) का चौमासा मुनि प्रेमचन्द ने पानीपत में किया और आपने मूलचन्दजी, वृद्धिचन्दजी आनंदचन्दजी इन तीन साधुओं के साथ दिल्ली में किया ।

वृद्धिचन्दजी के पिता का नाम लाला धर्मजस तथा माता का नाम कृष्णादेवी था । आप बीसा ओसवाल गद्दिया गोत्रीय जैन धर्मानुयायी थे । आपका जन्म वि० सं० १८९० (ई० स० १८३३) पोष सुदि-११ को रामनगर में हुआ था । माता-पिताने आपका नाम कृपाराम रखा था । दीक्षा के समय आपकी आयु १७-१८ वर्ष की थी । बाल-ब्रह्मचारी थे । आप का एक मित्र था उस का नाम जीवनमल था । जाति से वह अरोडा था और वह जैनेतर धर्मानुयायी था । दोनों की दीक्षा दिल्ली में वि० सं० १९०८ में हुई, जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं ।

दीक्षा का वरघोडा शुभ मुहूर्त में बडी सजधज के साथ बादशाही सोने की पालकी में दोनों दीक्षार्थियों को बिठला कर राजा-महाराजाओं के वेष में बडी शानोशौकत (ठाठ-माठ) के साथ निकाला) । हाथी, निशान, घुडसवार, ध्वजाओं, पताकाओं इत्यादि के साथ वरघोडे की निराली शान थी । अनेक बैंड-बाजों ने वरघोडे को चार चाँद लगा दिये थे । बादशाही सोने की पालकी में बैठे हुए दीक्षार्थी युवकद्वय ने भरा-पूरा कुटुम्ब परिवार आदि सर्व परिग्रह का त्याग करके भागवती जैनमुनि की दीक्षायें ग्रहण की ।

शुद्ध तत्त्व परीक्षक, प्रसिद्ध ऋषि बूटेराय ।
तजी कुमत पक्ष को, शुद्ध मार्ग दिल लाय ॥

अर्थात् शुद्ध तत्त्व के परीक्षक ऐसे प्रसिद्ध ऋषि बूटेरायजी कुमत पक्ष का त्याग तो कर ही चुके थे । परन्तु प्रभु श्रीमहावीर द्वारा प्ररूपित शुद्ध जैनमार्ग को पाने की मन में वर्षों से लगी प्यास को

बुझाने के लिये आपने वि० सं० १९०८ (ई० स० १८५१) को अपने शिष्यों के साथ गुजरात की ओर विहार किया, ताकि सद्‌गुरु की तलाश करके अपने मन की अभिलाषा को पूर्ण कर सकें।

गुजरात की ओर प्रस्थान

चौमासे बाद मुनि प्रेमचन्दजी भी दिल्ली आ गये। आपने अपने चारों शिष्यों (प्रेमचन्द, मूलचन्द, वृद्धिचन्द, आनन्दचन्द) के साथ गुजरात की तरफ विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आप पांचों मुनिराज जयपुर आये और वि० सं० १९०९ (ई० स० १८५२) का चौमासा यहीं पर किया। चौमासे के पश्चात् पांचों मुनियों ने विहार किया। किशनगढ होते हुए अजमेर पहुँचे और अजमेर से नागौर पहुँचने पर श्रीवृद्धिचन्दजी के पैरों में पीडा हो जाने के कारण परवश यहाँ रुकना पडा। मुनि मूलचन्दजी यहाँ से आगे के लिये विहार कर गये। आनन्दचन्द दीक्षा छोडकर भाग गया और अन्यत्र जाकर यति के रूप में ज्योतिषी का धन्धा करने लगा। नागौर में बीकानेर के भाई विनती करने आये। कुछ दिनों में वृद्धिचन्दजी को पैरों की पीडा से आराम आ गया। पश्चात् आपने वृद्धिचन्दजी के साथ बीकानेर की तरफ विहार किया। वि० सं० १९१० (ई० स० १८५३) का चौमासा प्रेमचन्दजी ने नागौर में किया, मूलचन्दजी ने पालीताना में किया और बूटेरायजी ने वृद्धिचन्दजी के साथ बीकानेर में किया। इस समय बीकानेर में २७०० घर ओसवाल जैनों के थे। जिन में आधे श्वेताम्बर थे और आधे स्थानकमार्गी संप्रदाय को माननेवाले थे। यहाँ संवेगी मुनिराजों को पधारे शताब्दियाँ बीत गयी थीं। आपके पधारने से बीकानेर के श्रावकों में बहुत उल्लास भर गया। अनेक प्रकार के

धर्मकार्य हुए। खरतरगच्छ के यतियों ने आपको अपने पोषाल में ठहरने की विनती की। यहां पर आपने श्रीसिद्धाचलजी और श्रीकेसरियानाथजी की बहुत महिमा सुनी। आपश्री की इन दोनों तीर्थों की यात्रा करने की भावना हुई। बीकानेर के चौमासे में आपके पास अजमेर के संघ का एक पत्र आया कि चौमासे उठे आपश्री अजमेर अवश्य पधारने की कृपा करें, क्योंकि यहाँ पर बाइसटोले का (स्थानकमार्गी) साधु रतनचन्द आपके साथ जिनप्रतिमा मानने के विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहता है। चौमासे के बाद आप वृद्धिचन्दजी के साथ अजमेर शीघ्र पधारने की कृपा करना।

चौमासे उठते ही आप दोनों अजमेर पधारे। यहाँ पर आपका शास्त्रार्थ ऋषि रतनचन्द के साथ जिनप्रतिमा को मानने के विषय पर हुआ। वह परास्त होकर अजमेर से नौ दो ग्यारह हो गया।

यहाँ से केसरियाजी की यात्रा के लिये छ'री पालता संघ निकला। आप दोनों मुनिराज भी इस संघ के साथ केसरियाजी की यात्रा के लिये पधारे। यहाँ पर श्रीआदिनाथ (दादा ऋषभदेव) की चमत्कारी प्रतिमा के दर्शन कर बहुत हर्षित और आनन्दित हुए।

श्रीकेसरियाजी में गुजरात देश के इलोल-नगरवाले सेठ बेचरदास मानचंद का छ'री पालता संघ यात्रा के लिये आया हुआ था। उसने भी बडी भावभक्ति से प्रभु की पूजा की। प्रभु की पूजा करने के पश्चात् सकल संघ के यात्री आप दोनों मुनिराजों के दर्शन करने को धर्मशाला में आये।

वे लोग आपके वेष तथा क्रिया को देखकर आश्चर्यचकित हो गये। संघपति ने आपश्री को वन्दन करके सकुचाते हुए पूछा -

''गुरुदेव ! एक सन्देह का आपश्री से समाधान चाहता हूँ। आज्ञा हो तो अर्ज करूं ?''

आपश्री ने मुस्कराते हुए सहज भाव से फरमाया - ''भाई ! तुम निःसंकोच होकर पूछ सकते हो।''

संघपति - ''आपश्री के वेष तथा आचार से तो ऐसा ज्ञात होता है कि आप बाइसटोले (स्थानकमार्गी) साधुओं जैसे हैं, किन्तु आपके हाथ में मुँहपत्ती को तथा श्रीजिनमूर्ति एवं तीर्थ की भक्ति को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपश्री शुद्ध सनातन जैन श्वेताम्बर धर्म के अनुयायी हैं, एवं आपकी क्रियाएं कुछ खरतरगच्छ से मिलती-जुलती हैं। इसका क्या कारण है ?''

मुनि बूटेरायजी - ''शेठ साहब ! हम लोग पंजाब से आ रहे हैं, वहीं पर हमारा जन्म हुआ है। जन्म से मैं अजैन हूँ। मेरा सांसारिक परिवार सारा ही जैनेतर है। पंजाब में ही मैंने बाइसटोले (स्थानकमार्गी) साधुओं से दीक्षा ली और उसी संप्रदाय का साधु बना। जैन आगमों का अभ्यास करने से मुझे उन का मत आगमानुकूल सच्चा प्रतीत नहीं हुआ। श्रीजिनप्रतिमा को मानने तथा मुखपत्ती को मुख पर न बाँधने के आगम के प्रमाणों को पढ कर उस संप्रदाय से मेरी श्रद्धा हट गई। मैंने मुँहपत्ती का डोरा तोड दिया और उसे हाथ में लेकर मुख के सामने रखकर बोलने लग गया हूँ। तभी से मैं और मेरे शिष्य जिनप्रतिमा को मानने लगे हैं। सारे पंजाब में तथा राजस्थान में आज तक हमने किसी ऐसे साधु को नहीं देखा जो बाइसटोले और यतियों से अलग जैनागमानुकूल वेषधारी और शुद्ध सामाचारी को पालनेवाला हो। स्थानकमार्गी

जिनप्रतिमा उच्छेदक और निन्दक है, उनका वेष भी स्वलिंगी का नहीं है। यति लोग जिनप्रतिमा को मानते तो हैं, पर उनका आचार आगमानुकूल जैनमुनि का नहीं है। बीकानेर आदि नगरों में खरतरगच्छ की क्रिया करनेवाले यति होने से हमने भी देखा-देखी इस क्रिया को अपनाया है। हमारे ख्याल से तो इस काल में आगमानुकूल शुद्ध सामाचारी पालन करनेवाला कोई साधु-साध्वी नहीं है, पर प्रभु महावीर का शासन इक्कीस हजार वर्षों तक चलेगा ऐसा आगम का फरमान है। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या किया जावे ?"

संघपति – "गुरुदेव ! आप संघ के साथ गुजरात पधारने की कृपा करें। वहां आपश्री को आगमानुकूल शुद्ध सामाचारी पालन करनेवाले, जिनप्रतिमा और जिनतीर्थों के उपासक, श्रीवीर परमात्मा द्वारा कथित आगमानुकूल वेषधारी तथा शुद्ध क्रियाओं को धारण करनेवाले, जो मुँहपत्ती को मुख पर नहीं बाँधते, परंतु मुँहपत्ती को हाथ में रखकर बोलते समय मुख के सामने रखकर बोलते हैं, कंचन, कामिनी, जर, जोरू, जमीन (धन, स्त्री तथा धरती) आदि परिग्रह के सर्वथा त्यागी हैं, ऐसे संवेगी साधुओं के दर्शन होंगे। वहाँ पहुँच कर आपकी सब मनोकामनाएं सफल होंगी और शुद्ध गुरु की प्राप्ति भी हो जावेगी।"

बूटेरायजी – "भाई ! संवेगी साधु कैसे हैं ? उन्हें तो हमने न कभी देखा है, न जानते-पहचानते ही हैं। क्या वे शास्त्रों में वर्णन किये हुए आचार को पालन करनेवाले जैन साधु हैं ?"

संघपति – "हां महाराज ! वे ही सच्चे जैन साधु हैं। ऐसे संवेगी साधु विशेषरूप से आजकल गुजरात में विचरते हैं। वे जिनप्रतिमा

को मानते हैं। मुख पर मुँहपत्ती बाँधते नहीं है। सर्वथा परिग्रह के त्यागी होते हैं।

गुजरात देश में आगमन

संघपति की विनती को स्वीकार कर आपश्री वृद्धिचन्दजी के साथ गुजरात देश के लिये रवाना हो गये। जब संघ प्रांतीज पहुंचा तब मुनि नेमसागर के शिष्य कपूरसागर ने आपके साथ कई विषयों पर शास्त्रार्थ किया और वह परास्त होकर आपकी विद्वत्ता और शुद्ध चारित्र पर मंत्रमुग्ध होकर आप का प्रेमी बन गया। वहाँ से आप विहार करते हुए वृद्धिचन्दजी के साथ अहमदाबाद पहुँचे। आप यहाँ के लिये एकदम अपरिचित थे। न आप किसी को जानते थे और न ही कोई आप को जानता था। आपके लिये यह सारा देश ही अपरिचित था। आप गुरु-शिष्य शहर के बाहर हठीभाई की वाडी में जाकर ठहर गये।

प्रातःकाल नगर में अनेक जिनमंदिरों के दर्शन करने के लिये आप वृद्धिचन्दजी के साथ निकल पडे। रास्ते में हेमाभाई नगरशेठ मिले। पहले से कोई जान-पहचान न होने से "कोई साधारण मुनि आये होंगे" ऐसा सोचकर आपकी तरफ उसने कोई ध्यान न दिया और आगे को चले गये। इधर आप भी सब मंदिरों के दर्शन करके वापिस हठीभाई की वाडी में चले गये।

आपश्री अजमेर पधार चुके थे। वहाँ साधुमार्गी रतनचन्द मुनि के साथ आप का शास्त्रार्थ भी हुआ था। इसलिये वहाँ के श्रीसंघ पर आपकी विद्वत्ता, त्याग, वैराग्य तथा चारित्र की गहरी छाप पड चुकी थी। वहाँ के सकल संघ से आपका परिचय भी था।

अहमदाबाद में अजमेरवाले गज्जरमल लूणिया की दुकान थी । वह बहुत बडा श्रीमंत गृहस्थ था । अहमदाबाद की इसकी दुकान पर इसका भानजा चतरमल रहता था । जब संघ के साथ आपने गुजरात की तरफ विहार किया था, तब गज्जरमल लूणिया ने अहमदाबाद अपनी दुकान पर चतरमल को पत्र लिख दिया था । जिसमें महाराजश्री के वैराग्य आदि गुणों की बहुत प्रशंसा लिखी थी और गुजरात की तरफ विहार करने के समाचार भी लिखे थे । चतरमल ने ये सब समाचार हेमाभाई से कह दिये थे। जब हेमाभाई उजमबाई की धर्मशाला में पहुँचे तब उन्हें याद आया कि "जिन शुभ आकृति और समभाव आदि गुणों युक्त मुनियों को मैंने स्वयं रास्ते में देखा था, क्या चतरमल ने जिन मुनिराजों का मुझसे जिकर किया था संभवतः ये दोनों वहीं होंगे !" ऐसी कल्पना कर नगरसेठ हेमाभाई ने आपको बुला लाने के लिये अपने एक आदमी को हठीभाई की वाडी में भेजा । आपका विचार भी शहर में रहने का था क्योंकि हठीभाई की वाडी से शहर बहुत दूर पडता था । आप उस आदमी के साथ उजमबाई की धर्मशाला में चले आये । उस समय मुनि दानविजयजी वहाँ व्याख्यान वाँचते थे । नगरसेठ ने महाराजश्री से सब समाचार पूछे । सहज रूप से बातचीत होने पर सेठ को परम संतोष हुआ । "सच है, गुणग्राही जनों को गुणी के गुण आह्लाद दिये बिना रहते नहीं ।"

दूसरे दिन हेमाभाई सेठ डेलां के उपाश्रय में मुनि सौभाग्यविजयजी के व्याख्यान में नित्य के नियमानुसार गये । वहाँ समय पाकर सेठ ने मुनि सौभाग्यविजयजी से कहा कि- "यहाँ दो पंजाबी मुनि आये हैं । वे बहुत गुणी है, ज्ञानवान है, क्रियावान है

और चारित्रवान भी है इत्यादि ।" सौभाग्यविजयजी ने आपको बुलाने के लिये एक आदमी को भेजा । गुरुजी के साथ मुनि वृद्धिचन्दजी भी पधारे । मुनि सौभाग्यविजयजी ने आपका बहुत सत्कार किया । परस्पर बातचीत करके परिचय पाने के बाद सौभाग्यविजयजी बहुत संतुष्ट हुए ।

श्रीसिद्धगिरि की यात्रा

कुछ दिनों बाद केशरीचन्द गटा ने सिद्धाचलजी का छ'री पालता संघ निकालकर तीर्थयात्रा के लिये जाना था । बूटेरायजी महाराज ने भी श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा करने के लिये सेठ हेमाभाई से अपनी इच्छा प्रकट की । सेठने संघवी को अपने पास बुला लिया और उसके आने पर उससे दो पंजाबी साधुओं को संघ के साथ ले जाने के लिये कहा । संघवी का विचार लम्बे-लम्बे पडाव करके थोडे दिनों में पालीताना में पहुँचने का था, इसलिये मुनि श्रीबूटेरायजी की वृद्धावस्था देखकर संघवी ने आपसे विनती की कि आपश्री 'डोली' में बैठकर संघ के साथ चलने की कृपा करें । आपने इस विचार को अनावश्यक बतलाकर लम्बी मंजिल करके भी संघ के साथ पैदल चलकर ही यात्रा करने की रुचि बतलाई । संघ के साथ चलते हुए आठ दिनों में आप वि० सं० १९११ (ई० स० १८५४) चैत्र सुदी १३ (मारवाडी) को पालीताना पहुँच गये । दूसरे दिन पर्वत पर चढकर श्रीऋषभदेव दादा के दर्शन कर अपार हर्ष का अनुभव किया । उस समय स्थानकमार्गियों के दुर्भाग्य का विचार आने पर मनमें कुछ खिन्नता सी हुई । विचार आया कि ऐसा उत्तम तीर्थ अनेक तीर्थंकरों, गणधरों, मुनियों ने जिस भूमि को पावन किया है; जहां से अनन्त मुनिराज सिद्ध (निर्वाण) पद को

पाये हैं और अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने पूर्व पुण्य के योग से प्राप्त लक्ष्मी को मुक्त हाथों से खर्च कर जिस तीर्थ पर अपने नाम को अमर किया है; ऐसे तीर्थाधिराज के दर्शन से जैनागम के प्रतिकूल आचरणवाले अविचारी कुगुरुओं की प्रेरणा से वे बेचारे विमुख रहते हैं, यह उनके दुर्भाग्य का उदय ही समझना चाहिये। आप दोनों मुनिपुंगवों ने प्रथमवार श्रीजिनेश्वरप्रभु के समक्ष अन्तःकरण से शुद्ध भावपूर्वक उनकी स्तुति-स्तवनादि करके अपनी आत्मा को धन्य माना। पश्चात् पर्वत से नीचे उतरे। एक दिन संघ के साथ पडाव में रहकर दूसरे दिन पालीताना गांव में जोरावरमल की धर्मशाला में जहाँ मुनि प्रेमचन्दजी नागौर से विहार करके पहले ही पहुँच चुके थे; उनके साथ जाकर रहे। मुनि मूलचन्दजी उस समय मोती-कडिया की धर्मशाला में रह रहे थे।

इस समय संवेगी साधुओं की संख्या अति अल्प होने के कारण उनका परिचय श्रावकों को बहुत कम था। यतियों की संख्या बहुत अधिक थी और उनका जोर भी अधिक था। श्रावक वर्ग यतियों के रागी थे। मुग्ध श्रावक यतियों में ही गुरुपना मानते थे और सुधर्मास्वामी की गद्दी (पाट) के अधिपति के रूप में मनवा-कर अपनी पूजा कराते थे। श्रावक भी बडी श्रद्धा और भक्ति से उन्हें पूजते थे। वेषमात्र को पूज्य मानकर साधु के गुणों रहित यतियों का पूजा-सत्कार करने में श्रावक लोग अपने आपको धन्य मानते थे। ऐसी विचार-शून्यता के कारण संवेगी मुनियों को आहार-पानी मिलना भी दुश्वार (दुर्लभ) था। आदर-सत्कार गुणों का ही होना चाहिये ऐसी विचारधारा नष्ट हो चुकी थी। इसलिये संवेगी मुनियों का आदर-सत्कार कोई नहीं करता था। इस परेशानी

के कारण यहाँ से विहार करने का विचार करके मुनि श्रीवृद्धिचन्दजी ने अपने गुरुदेव से कहा कि ''पूज्य गुरुदेव ! आपश्री मुझे यहाँ से विहार करने की आज्ञा प्रदान करें, और आपश्री यहीं विराजें । अवसर को ऐसा ही जानकर गुरुमहाराज ने मुनि प्रेमचन्दजी के साथ वृद्धिचन्दजी को विहार करने की आज्ञा दे दी और आपश्री ने यह भी सूचना की कि विहार करते हुए चौमासा करने के योग्य क्षेत्र मालूम होने पर हमें तुरत समाचार देना । विहार करते हुए प्रेमचन्दजी और वृद्धिचन्दजी दोनों गुरुभाई भावनगर पहुँचे और खुशालविजयजी की धर्मशाला में आकर ठहर गये ।

पालीताना में भावनगर के श्रावक बेचरदास आदि मुनिश्री बूटेरायजी तथा इनके शिष्यों से मिल चूके थे । तब आप लोगों से मिलकर ये आपके गुणों से बहुत प्रभावित हुए थे । इन दोनों पंजाबी साधुओं के भावनगर पधारने पर यहाँ के श्रीसंघ के सामने इन लोगों ने बहुत प्रशंसा की । श्रीसंघ आपको आग्रहपूर्वक विनती करके सेठ के डेले में स्थिरता करने के लिये ले गया । यहाँ प्रतिदिन मुनि प्रेमचन्दजी व्याख्यान वाँचते थे । व्याख्यान को सुनकर लोग बहुत प्रभावित और प्रसन्न होते थे । मुनि श्रीवृद्धिचन्दजी सामान्य उपदेश और चर्चा-वार्ता से तथा अनेक प्रकार के प्रश्नों के समाधान से सबका मन मोह लेते थे । यहाँ पर भी यतियों का बडा जोर था । श्रावक-समुदाय का अधिक भाग इन्हीं गौरजी (यतियों) का ही रागी था । कई लोग तो जैनधर्म को टिकाये रखनेवाले इन्हीं गौरजी को ही मानते थे, कहते थे कि यदि गौरजी न होते तो धर्मलोप हो जाता । जिस प्रकार आचार-विचार से ये लोग च्युत हो चुके थे,

वैसे ही नाम से भी गुरुजी शब्द के अपभ्रंश रुप में 'गोरजी' कहलाने लगे थे ।

महाव्रतों का उच्चारण करके मुनि की दीक्षा लेकर मठधारी बन चुके थे । महाव्रतों के पालन करने में मंद तो थे ही, परन्तु ज्ञान में भी मंद हो चुके थे । वैद्यक और मंत्र-यंत्र-तंत्र से भोले लोगों को अपने अनुरागी बनाने का धंधा ले बैठे थे । श्रावक-श्राविकाओं की बेसमझी के कारण अपने अयोग्य आचारों में वृद्धि पाते जा रहे थे । महाव्रतों में वे एकदम शिथिल थे । ऐसा होते हुए भी यदि ये लोग ज्ञानउपार्जन की प्रीतिवाले बने रहते, तो जैन समाज में शास्त्री-पंडित बनकर शासन को कुछ लाभकारी हो सकते थे । पर ज्ञान तथा आचार शून्य होने के कारण इन लोगों के पतन का समय आया ।

दोनों पंजाबी मुनियों के पधारने से इन के उपदेश से भावनगर का श्रावक वर्ग धीरे-धीरे आकर्षित होने लगा और यतियों पर से राग कम होने लगा । मुनि श्रीवृद्धिचन्दजी ने गुरुमहाराज को पालीताना में समाचार भेजे कि "भावनगर चौमासा करने के लिये योग्य क्षेत्र है, इसलिये आप यहाँ पधारने की कृपा करे ।" महाराज श्रीबूटेरायजी भी भावनगर में पधार गये । वि० सं० १९११ (ई० स० १८५४) का चातुर्मास तीनों मुनियों (श्रीबूटेरायजी, श्रीप्रेमचन्दजी, श्रीवृद्धिचन्दजी) का भावनगर में हुआ ।

मुनि श्रीमूलचन्दजी ने अखयचन्द यति से अभ्यास करने के लिये वि० सं० १९११ का चौमासा पालीताना में किया । इस चातुर्मास में कोई-कोई श्रावक आपके अनुरागी बने ।

योग्य गुरु की खोज के लिये मनोमंथन

भावनगर के श्रीसंघ ने आपको हस्तलिखित शास्त्रों का भंडार दिखलाया। उसमें से जो ग्रंथ आपको पढने के लिये चाहिये थे वे दिये। आपने चौमासा विविध प्रकार के ग्रंथो के स्वाध्याय में व्यतीत किया। आपको तपागच्छ के महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी के ग्रंथों को पढने से यह ज्ञात हुआ कि वे अपने समय के प्रकांड विद्वान थे। आपने सुना कि यशोविजयजी ने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की है। आप अपनी बनाई हुई मुखपत्ती-चर्चा नामक पुस्तक में लिखते हैं कि ''मैंने यशोविजयजी के मात्र पंद्रह-बीस ग्रंथ ही देखे हैं। इनको पढने से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस पंचमकाल में भव्यजीवों का बहुत उपकार किया है। जिनशासन के सिद्धान्तों की मार्मिक खोज की है। इस दुषमकाल में ऐसे उपकारी पुरुष मिलने दुर्लभ है। जिनप्रतिमा-पूजन और मुँहपत्ती न बाँधने की मेरी मान्यता को पुष्ट करते हैं। नय-निक्षेप आदि गहन विषयों के पंडित थे। उपाध्यायजी ने जैनी नाम धरानेवाले पाखंडी मतों का भी परिचय लिखा है। स्वमत-परमत का स्पष्ट निर्णय किया है। इससे उपाध्यायजी सत्यतत्त्व-परीक्षक आत्मगवेषी प्रतीत होते हैं। यदि कोई यह कहे कि ''उपाध्यायजी ने तो अपने ग्रंथों में उत्सूत्र-मान्यता का खंडन-मंडन किया है। इसलिये वे एक पक्ष की पुष्टि करके कदाग्रही द्वेषी सिद्ध होते हैं। उन्हें तो तपागच्छ से अनुराग था, अन्य गच्छों से द्वेष था, ऐसा प्रत्यक्षप्रतीत होता है।'' परन्तु संसार में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, भलाई-बुराई, सदाचार-अनाचार, सुमार्ग-कुमार्ग, सुदृष्टि-कुदृष्टि, रागद्वेषभाव-वीतरागभाव

आदि सब विद्यमान हैं । इसलिए यदि सत्यमार्गगवेषी सत्य-झूठ, सन्मार्ग-उन्मार्ग की गवेषणा न करे, उसमें अन्तर न समझे, हेय-ज्ञेय-उपादेय को न जान पाये तो आत्मगवेषी नहीं बन सकता । और आत्मगवेषी बने बिना, सत्य वस्तु को समझे बिना, सन्मार्ग का आचरण करना, सत्-पथगामी होना असंभव है तथा शुद्धमार्ग के आचरण बिना आत्मशुद्धि कदापि नहीं हो सकती । आत्मशुद्धि के बिना जीव सब कर्मों से छूटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये सत्यवस्तु की सारता के प्रतिपादन के साथ असत्य की निःसारता का स्वरूप भी समझना अनिवार्य है । ताकि मुमुक्षु आत्मा सन्मार्ग का स्वीकार तथा उन्मार्ग का त्याग कर सत्-पथगामी बन सके । काँच और हीरे की परख के लिये यदि जौहरी को गुण-दोष का बोध न हो तो उसे जौहरी कहना नितांत भूल है । पीतल तथा सोने का क्रय-विक्रय करनेवाले को भी इनके अन्तर की परख होनी चाहिए, नहीं तो वह कुशल व्यापारी नहीं है । पीला है वह सोना ही है ऐसा माननेवाला जो धंधादारी पीतल और सोने को एक समझकर क्रय-विक्रय करेगा वह मार खा जाएगा, पिट जाएगा, चौपट हो जाएगा, व्यापारियों में उसकी साख उठ जाएगी और अन्त में वह दीवालिया हो जावेगा । इसलिए उपाध्यायजी ने तो अपने ग्रंथों में नीर-क्षीर-विवेक की दृष्टि से सत्यमार्ग-गामियों के लिए सब विषयों पर गवेषणपूर्वक बडी विद्वत्ता से, निष्पक्षपात दृष्टि से समभावपूर्वक अपूर्व ग्रंथ रत्नों की रचना करके मुमुक्षु आत्माओं पर मातृवत् वात्सल्यपूर्ण हृदय से बडा भारी उपकार किया है । इससे स्पष्ट है कि उपाध्यायजी महाराज झूठ-प्रतिपादक

तथा कदागृही और द्वेषी कदापि नहीं थे । झूठा, द्वेषी, कदाग्रही तो उसे कहना चाहिए कि जो सत्य-झूठ में कोई अन्तर न समझे । अविवेकी तो उसे समझना चाहिये कि जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म में तथा रागीद्वेषी अल्पज्ञों द्वारा चलाये गये विवेकशून्य धर्मों में कोई अन्तर न समझे । विचक्षण और अकदाग्रही तो विवेकवान ही होता है ।

जब मैंने उपाध्यायजी के १-अध्यात्मसार, २-द्रव्य-गुण-पर्याय रास, ३-ज्ञानसार, ४-देवतत्त्व-गुरुतत्त्व-निर्णय, ५-साढे तीन सौ गाथाओं का स्तवन, ६-डेढ सौ गाथाओं का स्तवन, ७-सवासौ गाथाओं का स्तवन, ८-चौबीसी, ९-बीसी, १०-अठारह पापस्थान की सज्झाय इत्यादि ग्रन्थों को पंडित रामनारायणजी से अर्थ-विवेचन सहित पढा । उस पर से निर्णय किया कि उनके ये सब ग्रन्थ नय-निक्षेप, अनेकान्तवाद-स्याद्‌वाद, निश्चय-व्यवहार, सप्तभंगी-आठ पक्ष, सोलह वचन, भाषा और व्याकरण की दृष्टि से भी वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग को बतलानेवाले बिना दाग-धब्बों के निर्मल कांच के समान हैं । मात्र इतना ही नहीं, परन्तु पथभ्रष्टों के लिये रोशनी के मीनार (प्रकाशस्तंभ) के समान हैं । किन्तु जीव को शुद्धप्ररूपणा करनेवाले का संयोग मिलना दुष्कर है । यदि संयोग मिल भी जावे तो सुनना दुर्लभ है । यदि सुन भी ले तो कदाग्रह-दृष्टिराग के कारण विवेकबुद्धि के बिना समझना संभव नहीं । यदि समझ भी ले तो श्रद्धा आना दुर्लभ है । कारण यह है कि जीव को अनादिकाल से मिथ्यात्व ने घेरा हुआ है । व्यवहार में तो जीव को देव-गुरु-धर्म का निमित्त है, पर उपादान तो मोहनीय, ज्ञानावरणीय,

दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों का क्षयोपशम है। एवं यदि इसके साथ पुण्यानुबन्धी पुण्य का संयोग मिले तो केवली भगवंतों द्वारा प्ररूपित धर्म की प्राप्ति होती है। यदि कोई भव्यात्मा संसार-समुद्र को तरना चाहता है तो उसे सम्यग्दृष्टि मनुष्यों की संगत करनी चाहिये। उनकी सेवा करनेसे ही सन्मार्ग की प्राप्ति हो सकती है। धन्य जिनशासन है और धन्य जिनशासन का ज्ञान है। उपाध्यायजी के ग्रन्थों को पढने से उनकी रचना को देखकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। आजतक मैंने जो ज्ञान पढा था, उपाध्यायजी के ग्रंथ पढने से वह भी सफल हुआ। बाइसटोले (स्थानकमार्गी) की प्ररूपणा में मैंने जो कुछ जिनाज्ञा ने प्रतिकूल जाना और समझा था तथा श्रद्धा की थी, एवं तत्पश्चात् उसके विषय में जो मुझे सन्देह उत्पन्न हुए थे, उनके निवारण के लिये जो कुछ मैंने सद्ग्रन्थों के सत्य अर्थों को समझकर अपनाया था, एवं उनकी सत्यता के निर्णय के लिये किसी गीतार्थ के पास से निश्चय करने का विचार किया था; इन ग्रंथों को पढने से मेरे आगमानुसार सत्य विचारों की पुष्टि हो गई है। आज इस गीतार्थ द्वारा रचित ग्रंथों के पठन-पाठन स्वाध्याय से मुझे निर्विवाद निश्चय हो गया है कि मेरी श्रद्धा और धारणा अवश्य आगमानुकूल है। धन्य है शुद्ध प्ररूपणा करनेवाले उन श्रमण पुंगवों को जो आज देह से विद्यमान न होते हुए भी मेरे जैसे तत्त्वान्वेषकों के लिये अपने ग्रंथरत्नों की रचना करके छोड गये हैं। मेरी उन महापुरुषों को त्रिकरण तीन योग की शुद्धिपूर्वक सदा वन्दना हो।"

अब आपने सम्मतितर्क आदि न्यायग्रंथों का परिशीलन किया। फिर आनन्दघनजी कृत चौबीसी-बहोत्तरी पद्यों का वांचन करके

अर्थ और आशय को समझा । उपाध्याय देवचन्दजी के ग्रंथ आगमसार, ज्ञानगीता, चौबीसी तथा श्रीधर्मदासगणि-कृत उपदेशमाला इत्यादि ग्रंथों का अवलोकन किया ।

स्थानकवासी अवस्था में जो बत्तीस सूत्रों का आपने अभ्यास किया था, उपर्युक्त ग्रंथों के पढने के बाद फिर से उनका अवलोकन किया । आपने पाया कि स्थानकमार्गी अवस्था में इन सूत्रों के जो अर्थ आप को पढाये गये थे उनमें बडा अन्तर है । आप को दृढ निश्चय हो गया कि उपाध्याय यशोविजयजी, योगीराज आनन्दघनजी, उपाध्याय देवचन्दजी, गणि धर्मदासजी, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हरिभद्रसूरि प्रभृति महापुरुषों की रचनाओं में जैनागमों के सत्य मर्मों का बडा ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है । इन सद्गुरुओं-श्रमण पुंगवों ने भी वीतराग-शासन को गहरे पानी पैठकर उसकी वास्तविकता को परखा है और उसी वास्तविकता को अपने ग्रंथरत्नों में वर्णन किया है ।

आप कहते हैं - ''मेरी तो अल्प बुद्धि है । मिथ्यात्वी परिवार में जन्म लिया है । मिथ्यात्वियों से दीक्षा ली और उन्हीं के द्वारा पढा । अभव्यजीव भी तो दीक्षा लेकर ग्यारह अंग पढ जाता है । अनेकविध अन्य धर्मग्रंथों का भी अभ्यास कर लेता है । अतीत वर्तमान काल की अपेक्षा से अनंत अभव्य जीवों ने मिथ्यादृष्टि अवस्था में जैनागम पढे हैं और अनागत काल में भी पढेंगे । एवं द्रव्यलिंग धारण करके उत्कृष्ट क्रिया भी करते हैं । इक्कीसवें देवलोक (नवमें ग्रैवेयक) तक भी जाते हैं । परन्तु ग्रंथिभेद न करने के कारण सम्यक्त्व प्राप्त न करने से द्रव्यज्ञान, द्रव्यचारित्र और द्रव्यक्रिया करते हैं । ये सब जीव को चार गतियों में ही भ्रमण करानेवाले हैं,

परन्तु मोक्षदायी तो कदापि नहीं हो सकते। यदि सम्यग्दृष्टि जाग्रत हो तभी जीव मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जाग्रत होने से ही सम्यग्दृष्टि व सम्यक्चारित्र संभव है। फिर भी जिसने इन जैन मार्ग की तरफ मुझे प्रेरित किया है वह उतने रूप में तो मेरा उपकारी है ही। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए मैं एक दृष्टांत देना चाहता हूँ।"

दृष्टांत - कोई मनुष्य अपने गांव को जाने के लिये रवाना हुआ, पर वह दिग्मूढता के कारण रास्ता भूल गया और भटक गया, परन्तु वह अपने गांव का नाम तो जानता था। उसने रास्ते जाते लोगों से अपने गांव का रास्ता पूछा। जो उस गांव का रास्ता नहीं जानते थे वे क्या बतलाते ? इतने में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिल ही गया जो उस गांव का रास्ता अमुक चौराहे तक तो ठीक जानता था परन्तु उसके आगे के रास्ते की उसे खबर नहीं थी। उस राही ने उस भूले-भटके व्यक्ति को उस चौराहे तक पहुँचा दिया और कह दिया कि मैं इतना ही जानता हूँ आगे के लिए किसी जानकार से पूछ लेना। कुछ प्रतीक्षा के बाद उसी गांव का पूरा रास्ता जाननेवाला व्यक्ति उसे मिल गया और वह उससे मालूम करके अपने इच्छित गांव में पहुँच गया।

उस पथिक को जिसने जितना सही रास्ता बतलाया था, उतना तो वह उसका उपकारी है और जिसने उल्टा रास्ता बतलाया वह उसका अनिष्टकर्ता है। इसी प्रकार जीव को जो सच्चा मार्ग बतलावे वह उपकारी है और जो विपरीत मार्ग बतलावे वह अनिष्टकर्ता है। जो व्यक्ति शुद्ध मार्ग बतलावे वह हमारा परम उपकारी है। फिर वह आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चाहे कोई भी

हो । उसी के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करके मोक्ष मार्ग की तरफ अग्रेसर होना संभव है । ऐसे चारित्रवान तो विरले ही जीव कहे हैं । जिस-जिसने जो मान लिया है उस-उसने वैसा वैसा मत स्थापित कर लिया है । जैसी-जैसी जिसकी बुद्धि है वैसी-वैसी प्ररूपणा करनेवाले तो बहुत मिल जावेंगे । साधारण लोग तो आगमशास्त्र के जानकार होते नहीं हैं, इसलिए वे सच-झूठ की परख नहीं कर पाते । देश में मैंने प्रायः सब मती देखे हैं, बहुतों को परखा भी है, परन्तु वे अपने अपने कदाग्रह को छोडते नहीं । वीतराग केवली प्रभु के दर्शाये हुए मार्ग की शुद्ध प्ररूपणा करनेवाला तो कोई विरला ही होता है । खोटे निमित्त से हानि संभव है, उसकी संगत से जीव की प्रवृत्ति भी खोटी हो सकती है । इसलिए खोटे निमित्त से सदा बचते ही रहना चाहिये ।"

उपाध्याय यशोविजयजी आदि गीतार्थ महापुरुषों के ग्रंथ पढने से आपने यह अनुभव किया कि आत्मार्थी भव्य जीवों को चाहिये कि वे श्रीतीर्थंकर गणधर कृत मूल आगमों के अर्थों के समझने और पठन-पाठन के साथ साथ चौदहपूर्वधर, दस पूर्वधर तथा पूर्वाचार्यों आदि गीतार्थों के द्वारा उन पर की गई निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका (पंचांगी) को भी पढे । अनुकूल आचरण करनेवाले गच्छ तथा सामाचारी के पालक ही श्रीजिनेश्वर प्रभु की आज्ञाओं के अनुकूल आचरण कर सकते हैं तथा ऐसे ही आचार्य-समुदाय की निश्रा में रहकर सम्यग् प्रकार से मोक्ष मार्ग का पालन संभव हो सकता है । ऐसा निश्चय कर जो गच्छ आगमानुकूल सामाचारी का पालन करनेवाला हो उसी में ही दीक्षा लेनी चाहिए ।

नाम का झगडा नहीं; उस गच्छ का नाम चाहे कुछ भी हो । उपाध्याय यशोविजयजी के ग्रंथो को पढने के बाद आपने तपागच्छ की दीक्षा लेने का विचार किया । क्योंकि इस गच्छ की सामाचारी आगमानुकूल प्रतीत होती है ।

आपके मन मे सदा यही ऊर्मियां उठा करती थीं कि – ''मैंने मतमतांतर तो बहुत देखे हैं, परन्तु वे मत तो मुझे मिथ्या प्रतीत हुए । जिनेश्वर प्रभु द्वारा प्रतिपादित आगमानुसार आचरण करनेवाले श्रमण-श्रमणी कहां विचरते होंगे ? कौनसे क्षेत्र में विद्यमान होंगे ? देखना तो दूर रहा, सुना भी नहीं है । न जाने कितनी दूर किस क्षेत्र में विचरते होंगे ? यह तो ज्ञानी जाने । यदि इस क्षेत्र में कोई होगा तो भी विरला ही होगा ? इसका एकान्त निषेध तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि वीतराग प्रभुने फरमाया है कि जैन शासन पंचमकाल में भी इक्कीस हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा । इसमें मुझे किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है । पर मेरी श्रद्धा तो महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी के साथ बहुत मिलती है । उपाध्यायजी नाममात्र से तपागच्छ के कहलाये, पर वे इन गच्छों के झमेलों और इन वाडाबंधियों से बहुत ऊँचे थे । मेरा उपाध्यायजी के प्रति अनुराग बढा । उपाध्यायजी की सामाचारी को देखकर मेरा मन आकर्षित हुआ, पर इस काल में मुझे उनकी कोटि का कोई योग्य गुरू दृष्टिगत न हुआ, जिससे मैं संवेगी दीक्षा ग्रहण करता । मैंने सोचा कि ऐसा न होते हुए भी लोक-व्यवहार से मुझे गुरु तो अवश्य धारण करना ही चाहिये ।''

चतुर्मास व्यतीत होने के बाद आप अपने दोनों शिष्यों (प्रेमचन्द, वृद्धिचन्द) के साथ भावनगर से विहार कर फिर

पालीताना पधारे और दूसरी बार सिद्धगिरि की यात्रा का लाभ लिया। कई दिन यहाँ स्थिरता करने के बाद मुनि वृद्धिचन्दजी का विचार श्रीगिरनारजी की यात्रा करने का हुआ और गुरुमहाराज की आज्ञा लेकर अपने गुरुभाई मुनि प्रेमचन्दजी को साथ लेकर दोनों ने जूनागढ की तरफ विहार किया। श्रीबूटेरायजी महाराज अपने शिष्य मुनिश्री मूलचन्दजी को साथ लेकर बोटाद होते हुए लींबडी पधारे।

जूनागढ की तरफ जाते हुए मार्ग में मुनि प्रेमचन्दजी के साथ मुनि वृद्धिचन्दजी का प्रतिक्रमण की क्रिया सम्बन्धी मतभेद खडा हो गया। मुनि प्रेमचन्दजी की श्रद्धा खरतरगच्छ की विधि से प्रतिक्रमण करने की थी और मुनि वृद्धिचन्दजी की श्रद्धा भावनगर में गुरुमहाराज के साथ निर्णीत हुए विचार के अनुसार तपागच्छ की विधि से प्रतिक्रमण करने की थी। इस मतभेद के कारण दोनों अलग हो गये। जुदा जुदा रास्तों से दोनों ने अलग अलग विहार किया। बिना जाने-पहचाने देश और क्षेत्र होने के कारण रास्ते में बहुत परेशानी उठानी पडी। पूछते पूछते जूनागढ जा पहुंचे। उस समय अहमदाबाद से एक संघ वहाँ पर आया हुआ था और उसके साथ मुनि केवलविजयजी तथा मुनि तिलकविजयजी नाम के दो साधु भी थे। मुनि वृद्धिचन्दजी भी उनके साथ रहने के लिये जहाँ संघ का पडाव था वहाँ आये और आहार-पानीपूर्वक दोनों मुनियों के साथ वहाँ रहे। मुनि प्रेमचन्दजी भी उसी दिन जूनागढ पहुंचे और वृद्धिचन्दजी की खोज करके उनके साथ ही आकर उतरे। मुनि वृद्धिचन्दजी ने भी बिना किसी भेदभाव के और मन पर किसी भी प्रकार का आवेश लाये बिना पूर्ववत् आहार-पानी द्वारा अपने बडे गुरुभाई की भक्ति की।

सच है – ''महापुरुषों के मन का बडप्पन प्रत्येक प्रसंग पर प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहता।''

दूसरे दिन प्रात:काल गिरनार गिरि पर चढे। बालब्रह्मचारी बाइसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथजी की भव्य श्याम मूर्ति के दर्शन करके चित्त बहुत हर्षित हुआ। वृद्धिचन्दजी सहस्राम्रवन होकर वहाँ दादा के दीक्षा तथा केवलज्ञान भूमि पर स्थापित चरणों (पगलों) का दर्शन–वन्दन करके नीचे उतर आये और प्रेमचन्दजी ऊपर ही रहे। दूसरे दिन वृद्धिचन्दजी फिर पांचवी टोंक की यात्रा कर नीचे उतर आये और संघ के साथ विहार किया। प्रेमचन्दजी का विचार वहीं रहने का था। इसलिये वह पहाड पर ही रहे और एक गुफा में ध्यान करते रहे। अन्त में उनका वहीं स्वर्गवास हो गया।

संघ जामनगर पहुंचा। मुनि वृद्धिचन्दजी भी साथ में थे। यहाँ से वृद्धिचन्दजी मोरबी होते हुए बढवान पहुंचे। वहाँ पहुंचने पर आपने सुना कि ''लींबडी में बडे गुरुभाई मूलचन्दजी सख्त बीमार हैं, बहुत अशक्त हो गये हैं। उनकी वैयावच्च गुरुमहाराज को स्वयं करनी पडती है।'' यह समाचार पाते ही आप एकदम विहार कर लींबडी पहुंचे। वृद्धिचन्दजी के आ जाने पर मूलचन्दजी के मनको सांत्वना मिली। क्योंकि गुरुमहाराज को अपनी सेवा–शुश्रूषा करते हुए देखकर उनका मन निरन्तर खेद–खिन्न रहता था। ''उत्तम शिष्य इसी स्वभाववाले होते हैं।''

मुनि मूलचन्दजी के स्वस्थ हो जाने पर और शरीर में शक्ति आ जाने पर वहाँ से मुनि श्रीबूटेरायजी अपने दोनों शिष्यों के साथ अहमदाबाद पधारे और उजमबाई की धर्मशाला में उतरे।

संवेगी दीक्षा ग्रहण

अहमदाबाद में रूपविजय के डेले में मुनि सौभाग्यविजयजी तथा मुनि मणिविजयजी तपागच्छ के दो मुनिराज विराजमान थे। उस समय संवेगी साधुओं की संख्या एकदम कम थी। कुल २०-२५ की संख्या थी। मुनि बूटेरायजी ने भावनगर के चौमासे में तपागच्छ की बडी दीक्षा लेने का निश्चय किया था और अब आप योग्य गुरु की खोज में थे। आपने मुनि मणिविजयजी को भद्र प्रकृति तथा शांतस्वभावी जानकर उनके पास संवेगी दीक्षा लेने का निश्चय किया। पश्चात् आपने इस निर्णय का जिकर नगरसेठ हेमाभाई से किया। नगरसेठ को भी यह निर्णय बहुत पसन्द आया। शुभ मुहूर्त में वि० सं० १९१२ (ई० स० १८५५) को मुनि मणिविजयजी ने तीनों पंजाबी साधुओं को बडी दीक्षा दी। बूटेरायजी को मणिविजयजी ने अपना शिष्य बनाया और आपका नाम बुद्धिविजयजी रखा। मूलचन्दजी और वृद्धिचन्दजी को बुद्धिविजयजी का शिष्य बनाया। इनके नाम क्रमशः मुक्तिविजयजी और वृद्धिविजयजी रखे। दीक्षा लेकर आप तीनों मुनि उजमबाई की धर्मशाला में आ गये और वहीं वि० सं० १९१२ (ई० स० १८५५) का चौमासा किया।

संवेगी मुनि श्रीबुद्धिविजयजी

अब से मुनिराज श्रीबुद्धिविजयजी, श्रीमुक्तिविजयजी, श्रीवृद्धिविजयजी ने श्वेताम्बर तपागच्छ के संवेगी साधु की दीक्षा ग्रहण कर शुद्ध चरित्र-पालन करनेवालों की पहचान के लिए मुनि सत्यविजयजी गणि द्वारा चालू की हुई पीली चादर तथा श्वेताम्बर

संवेगी मुनि का वेष ग्रहण किया । वि० सं० १९१३ (ई० स० १८५६) का चतुर्मास मुनिश्री बुद्धिविजयजी तथा मुनिश्री वृद्धिविजयजी ने अहमदाबाद में किया और मुनिश्री मुक्तिविजयजी ने भावनगर में किया । आप तीनों पंजाबी मुनिराजों के बडी दीक्षा के समय नाम-परिवर्तन करने पर भी आप लोग अपने साधुमार्गी अवस्था के मूल नामों से ही प्रसिद्ध रहे । अतः हम भी इनका मूल नामों से ही उल्लेख करेंगे ।

शिक्षाप्रद एक घटना

जब वि० सं० १९११ (ई० स० १८५४) में भावनगर के चौमासे के बाद आप पालीताना की यात्रा करके लींबडी पधारे थे और वहाँ पर मूलचन्दजी का स्वास्थ्य बिगड जाने के कारण स्थिरता करनी पडी थी । उस समय अकस्मात एक घटना घटी । यहाँ पर एक श्रावक था वह स्वयं भी बेंगन खाता था और स्थानकमार्गी साधुओं को भी आहार में देता था । एकदा मूलचन्दजी महाराज गोचरी के लिए उसके घर गए और उनके इन्कार करने पर भी उसने एकदम बेंगन का साग वहोरा दिया । आपके पास एक छोटा पात्र था, उसी में सब दाल-साग आदि मिले हुए थे । इसलिए बेंगन की सब्जी को इसमें से अलग करना सम्भव न था । आपने गुरुदेव को यह घटना कह सुनाई ।

गुरुदेव बोले – ''मूला ! इसमें श्रावक का कोई दोष नहीं है । इन लोगों को सच्चे उपदेशक तो मिलते नहीं हैं, इसीका यह परिणाम है । यदि इस भूल का सुधार करना हो तो सच्चे त्यागी साधु उपदेशक तैयार करने चाहिए । जिसके उपदेशक बलवान उसका धर्म

बलवान। यह बात भूलने जैसी नहीं है। मूला ![१] तू एक काम कर, शुद्ध चारित्रवान त्यागी साधु तैयार कर। ऐसे साधुओं से ही सब सुधार सम्भव है।

मूला ! क्या तू इन कारणों को समझा है और उनका विचार किया है ? यतियों, श्रीपूज्यों की हदबाहर की सत्ता, संवेगी साधुओं की शिथिलता, स्थानकमार्गियों का आगम-विरुद्ध आचार और प्रचार, एकलविहारी साधुओं का एकान्त-क्रिया-आग्रह, निश्चयनय-वादियोंकी रूखी आध्यात्मिकता, शुद्ध चारित्रवान त्यागी श्वेताम्बर संवेगी साधुओं की कमी- ऐसे अनेक कारणों से श्वेताम्बर साधु-संस्था का विकास रुक गया है। यही कारण है कि गृहस्थ श्रावकों में भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार नहीं रहा। इसका अमोघ उपाय मात्र एक ही है और वह यह है कि शुद्ध चारित्रवान त्यागी ज्ञानवान श्वेताम्बर संवेगी साधुओं की वृद्धि हो।''

मूलचन्दजी - ''गुरुदेव ! इस जमाने में साधु बनाने में बहुत कठिनाइयाँ और रुकावटें आती हैं। श्रावक-श्राविकायें अपने बच्चों को साधु बनाना पसंद नहीं करते। यदि कोई साधु होनेवाला जीव उत्तम हो तो ठीक, नहीं तो वह साधुवेष को भी लजावेगा। फिर भी आपकी आज्ञा का पालन अवश्य होगा।''

पूज्य बूटेरायजी महाराज परम आध्यात्मिक योगीराज थे। आप अपने अध्यात्म-ज्ञान-ध्यान में ही तल्लीन रहते थे। सख्त जाडों में भी मात्र एक सूती चादर में ही रहते थे और आहार के

१. पूज्य मुनिश्री बूटेरायजी अपने सुयोग्य शिष्य मुनिश्री मूलचन्दजी को 'मूला' नाम से संबोधित करते थे।

लिए मात्र एक पात्र ही रखते थे। कभी-कभी तो चादर का भी त्याग कर ध्यानरूढ रहते थे।

एकान्त में मंत्रणा

मुनिश्री मूलचन्दजी और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी ने एकान्त में बैठकर निर्णय किया कि गुरुजी की आज्ञा का पालन अवश्य किया जायेगा। हम योग्य मुमुक्षुओं को दीक्षा देकर अपने शिष्य न बनायेंगे, मात्र गुरुजी के नाम से ही दीक्षा देकर उन्हीं के शिष्य बनायेंगे। अर्थात् अपने गुरुभाई बनायेंगे। वि० सं० १९१३ (ई० स० १८५६) में दो भाइयों की दीक्षा हुई। भावनगर में सूरत के श्रावक नगीनदास को मूलचन्दजी ने गुरु महाराज के नाम की दीक्षा देकर उसका नाम नित्यविजय रखा (यह नीतिविजय के नाम से प्रसिद्धि पाए) दूसरे एक श्रावक को पूज्य बूटेरायजी महाराज ने अहमदाबाद में स्वयं दीक्षा देकर उसका नाम पुण्यविजय रखा। वि० सं० १९१४ (ई० स० १८५७) का चतुर्मास मुनि बूटेरायजी ने मुनि पुण्यविजय के साथ अहमदाबाद में, मुनि मूलचन्दजी ने सिहोर में और मुनि वृद्धिचन्दजी ने भावनगर में किया।

वि० सं० १९१५ (ई० स० १८५८) को भावनगर में मुनिश्री वृद्धिचन्दजी ने एक श्रावक को अपने गुरुजी के नाम की दीक्षा देकर अपना गुरुभाई बनाया। नाम भावविजयजी रखा।

आदर्श गुरुभक्ति

मुनि श्रीबूटेरायजी महाराज अहमदाबाद से पालीताना में पधारे। मुनि मूलचन्दजी भी गुरुदेव के दर्शन करने के लिए सिहोर से पालीताना पधार गए। समाचार मिलते ही मुनिश्री वृद्धिचन्दजी

महाराज भी श्रीसिद्धाचलजी के दर्शन करने तथा गुरुदेव और गुरुभाई से मिलने के लिए भावनगर से विहार कर पालीताना आ पहुंचे। तीनों का यहां मिलाप हुआ।

यहाँ पर एक विशेष घटना घटी – मुनि श्रीमूलचन्दजी एक दिन गोचरी में दूध ले आए। उस दूध में श्राविका ने भूल से चीनी के बदले नमक डाल दिया था। इसका पता देने और लेनेवाले दोनों में से किसी को भी नहीं था। जब पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी ने दूध पीने के लिए पात्र को मुँह से लगाया और पहला घूंट पिया तो एकाएक बोले – "मूला ! मेरी जीभ खराब हो गई है, यह दूध कडवा लगता है !"

यह सुनकर मूलचन्दजी बोले कि "गुरुदेव ! लाइये मैं देखूं।" पात्र को अपने हाथ में लेकर जब मुनिश्री मूलचन्दजी ने दूध को चखा तब सहसा बोले कि "साहेब ! इसमें कुछ भूल हो गई लगती है। श्राविका ने भूल से चीनी के बदले दूध में नमक डाल दिया है।" यह कहकर मूलचन्दजी स्वयं उस दूध को पीने के लिए तैयार हो गए। यह देखकर मुनिश्री वृद्धिचन्दजी से न रहा गया। उन्होंने तुरन्त कहा – "भाईसाहब ! लाइए देखूं तो क्या बात है ?" ऐसा कहकर दूध के पात्र को मूलचन्दजी से लेकर स्वयं दूध को चखा। देखा कि दूध में बहुत मात्रा में नमक डाला हुआ है, इसका स्वाद एकदम कडवा हो गया है। पूज्य मूलचन्दजी से कहा – "भाईसाहब ! यह दूध न तो गुरुजी के पीने योग्य है और न ही आपके पीने योग्य है, परठने से जीवों की विराधना अवश्य सम्भव है। इसलिए मैं पी जाता हूँ।" पात्र को उठाकर वृद्धिचन्दजी झटपट सारा दूध स्वयं पी गए।

मुनिश्री वृद्धिचन्दजी महाराज यह दूध पी तो गए। इससे आप को संग्रहणी का रोग हो गया। यह व्याधि आपको जीवन के अन्त क्षणों तक रही। बहुत औषधोपचार करने पर भी रोगमुक्त न हुए। इस रोग के कारण आप धीरे धीरे इतने अशक्त हो गए कि विहार करने की भी क्षमता न रही। इसी कारण से आपको अंतिम ११ चौमासे भावनगर में ही करने पडे और वहीं इस नश्वर देह का त्याग हुआ। धन्य है ऐसे गुरुभक्त शिष्य तथा गुरुभाई भक्त को जिसने अपने प्राणों की बाजी लगा दी। परन्तु गुरु और गुरुभाई दोनों को आंच न आने दी।

वि० सं० १९१५ (ई० स० १८५८) का चौमासा बूटेरायजी महाराजने भावनगर में, मूलचन्दजीने सिहोर में और वृद्धिचन्दजी महाराजने गोघा में किया।

पंचांगी सहित आगमों का अभ्यास

इस चौमासे में पूज्य बूटेरायजी महाराज ने भावनगर में बत्तीस सूत्रों के अतिरिक्त जो बाकी जिनागम थे उनका अभ्यास किया। इस प्रकार ४५ आगमों का पंचांगी सहित अभ्यास पूरा कर लिया। अब आप सदा आत्मचिंतन, ध्यान तथा आगमों के स्वाध्याय में ही अधिक समय व्यतीत करने लगे। अन्य किसी भी प्रकार की खटपट में नहीं पडते थे।

चौमासे उठे पूज्य बूटेरायजी महाराज फिर श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा के लिए पालीताना में पधारे। यात्रा करके आप मूलचन्दजी को साथ लेकर अहमदाबाद पधारे। वृद्धिचन्दजी भावनगर पधारे।

पूज्य बूटेरायजी ने मुनि मूलचन्दजी के साथ वि० सं० १९१६ (ई० स० १८५९) का चौमासा अहमदाबाद में किया और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी ने अपने दादागुरु पंन्यास मणिविजयजी तथा पंन्यास दयाविमलजी के साथ भावनगर में किया । पूज्य बूटेरायजी ने नगरसेठ हेमाभाई को प्रेरणा करके पंजाब में बन रहे नवीन जिनमंदिरों के लिए जिनप्रतिमाएं भेजवाईं । यहाँ पर आप दोनों गुरु-शिष्य ने आगमों पर पंचांगी का विशेष रूप से चिंतन, मनन, पठन, पाठन, स्वाध्याय किया । पूज्य बूटेरायजी एक अलग कोठरी में अधिकतर समय ध्यान में ही बिताते थे । आप दिन में दोपहर के बाद मात्र एक बार ही आहार करते थे । आपके लिए आहार प्रायः मूलचन्दजी लाया करते थे । कभी-कभी आप स्वयं भी अपने लिये आहार ले आते थे । आप गोचरी जाते थे तो दोपहर के बारह बजे के बाद, जब प्रायः सब गृहस्थ लोग अपने अपने घरों में खा-पी चुकते थे । अन्य साधु मुनिश्री मूलचन्दजी की निश्रा में पास के कमरों में निवास करते थे और आप के सामीप्य में प्रायः सब समय पठन-पाठन में व्यतीत करते थे ।

पूज्य मूलचन्दजी महाराज अपने सब समुदाय पर नियंत्रण रखते थे । उनके लिये सब प्रकार की व्यवस्था आपके द्वारा की जाती थी । आप में अपूर्व कार्यशक्ति थी, सर्वतोमुखी प्रतिभा थी, अजोड व्यवस्थाशक्ति थी, शासन चलाने का महान सामर्थ्य था । आपके मन में शुरू से ही चारित्रसंपन्न तथा ज्ञानवान, वैराग्यवान साधुओं की संख्या बढाने में लगन थी । इसलिये धीरे-धीरे मुनियों की संख्या में वृद्धि होने लगी ।

पूज्य बूटेरायजी महाराज तो परमत्यागी, शान्तस्वभावी, निरतिचार चारित्रपालक, सदा ध्यान-स्वाध्याय में ही समय बितानेवाले महायोगिराज थे । इसलिये मुनिसंघ की व्यवस्था सब मूलचन्दजी महाराज ही करते थे ।

पंजाब से विनतीपत्र

इधर पूज्य बूटेरायजी के नाम विशेष संदेशवाहक श्रावकों के द्वारा पंजाब से गुजराँवाला, रामनगर, पपनाखा, जम्बू, पिंडदादनखाँ, किला-दीदारसिंह, किला-सोभासिंह आदि नगरों के श्रीसंघो से पंजाब पधारने के लिये विनतीपत्रों का ताँता बँध गया । पहले तो पंजाबियों को पता ही नहीं मिल रहा था कि गुरुदेव गुजरात में कौनसे नगर में विराजमान हैं । पहले गुजराँवाला और रामनगर के श्रावकों ने विनतीपत्र लिखकर दो-चार श्रावकों के साथ भेजे । उनसे कहा गया कि गुरुदेव आजकल कहाँ विराजमान हैं इसका पता लगाकर उनके पास पहुँचे और विनतीपत्रों को आपके हाथ में देकर उन्हें पंजाब में साथ लेकर वापिस आवें ।

उस समय जाने-आने के लिये रेल आदि की सुविधाएँ नहीं थी । भारत में अंग्रेजों का राज्य हो जाने पर भी पंजाब में लौहपुरुष नरवीर महाराजा रणजीतसिंह का राज्य था । ई० स० १८४६ (वि० सं० १९०३) में पंजाब में अंग्रेजों का राज्य प्रारंभ हुआ । इसलिये पंजाब से दिल्ली आदि को जाने-आने के लिए घोडे, बैलगाडी आदि ही साधन थे । गुजराँवाला, रामनगर आदि से विनतीपत्र लेकर रवाना होनेवाले श्रावक जैसे-तैसे दिल्ली पहुंचे । वहाँ आकर दिल्ली के भाइयों से पता लगा कि गुरुदेव अहमदाबाद में विराजमान हैं । श्रावक विनतीपत्र लेकर आपश्री के पास अहमदाबाद पहुंचे ।

विनतीपत्र पढते ही और संदेशवाहक भक्तजनों के हृदयव्यथा से व्यथित नेत्रों से बहती हुए धारावाही अश्रुधाराओं ने आपको पंजाब की ओर रवाना होने के लिए विवश कर दिया ।

पंजाब की और विहार

वि० सं० १९१६ (ई० स्० १८५६) के चौमासे उठे आपने मानकविजय और पुण्यविजय दो साधुओं को अपने साथ लेकर पंजाब की ओर विहार कर दिया । इस समय मुनिश्री मूलचन्दजी अहमदाबाद में और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी भावनगर में थे । आपश्री के पंजाब की ओर विहार कर देने पर पंजाब से आए हुए संदेशवाहक श्रावक भाई पंजाब की तरफ रवाना हो गए और वहाँ पहुंचकर आपश्री पंजाब के लिए रवाना हो चुके हैं ये समाचार दोनों श्रीसंघो को कह सुनाए । समाचार पाकर पंजाब के भगतों के हर्ष का पारावार न रहा ।

आपके अहमदाबाद से विहार कर जाने के बाद मुनिश्री वृद्धिचन्दजी भावनगर से पालीताना की यात्रा करके आपको और गुरुभाइयों को मिलने के लिए अहमदाबाद पधारे । यहाँ आने पर आपको मालूम हुआ कि गुरुदेव तो पंजाब की तरफ विहार कर गए हैं । यह जानकर गुरुदेव के दर्शनों से वंचित रहने का आपको अपार दु:ख हुआ ।

गुजरात से चलकर वि० सं० १९१७ (ई० स० १८६०) का चौमासा आपने पाली नगर (राजस्थान) में किया । और वि० सं० १९१८ (ई० स० १८६१) का चौमासा दिल्ली में किया ।

दिल्ली में गुजरांवाला से लाला कर्मचन्दजी दूगड शास्त्री आदि चार मुख्य श्रावक एवं रामनगर से बागाशाह आदि चार श्रावक

तथा तपस्वी मोहनलालजी सब पैदल चलकर गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए । ये आपके दर्शन करने तथा पंजाब में पधारने की विनती करने के लिए यहाँ आये थे । विनती करके आठों श्रावक पंजाब वापिस चले गए । तपस्वी मोहनलालजी नेत्रहीन (प्रज्ञाचक्षु) होते हुए भी आपश्री के साथ ही विहार में रहे । इससे उनकी गुरुदेव के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति का अनन्य परिचय मिलता है ।

चौमासे उठे आपश्री ने पंजाब की तरफ विहार किया । रास्ते में तपस्वीजी को गुरुदेव से एकान्त में धर्मचर्चा करने तथा प्रत्यक्ष अनुभव की बातों को सुनने का मौका मिलता । इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि करते हुए तपस्वीजी का चित्त हर्षित हो उठता ।

पंजाब में पुनः आगमन और कार्य

सर्वप्रथम आप अपनी जन्मभूमि दुलूआ गाँव में पधारे । वहाँ कुछ दिन स्थिरता करके फिर आप गाँव बडाकोट साबरवान (जहाँ आपने अपनी आठ वर्ष की आयु से लेकर दीक्षा लेने से पहले तक अपनी माताजी के साथ निवास किया था) में पधारे । वहाँ पर आपने वि० सं० १९१८ (ई० स० १८६१) में एक मकान के नीचे के कमरे में सिक्खों के प्रथम गुरु नानकदेव की मूर्ति तथा ऊपर की मंजिल पर एक चौबारे में वेदी बनवाकर श्रीजिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा विराजमान करवाई । कारण यह था कि आप जन्म से सिक्ख धर्मानुयायी जाट सरदार थे । इस गाँव में अथवा आपके जन्मवाले गाँव में जैनों का एक भी घर नहीं था और न ही इन गाँवों के निवासी जैनधर्म से परिचित थे । उन गाँववालों की श्रद्धा के अनुकूल आपश्री ने उनके मान्य गुरु नानकदेव की मूर्ति को बिराजमान कराया और साथ ही ऊपर की मंजिल में जैनधर्म के

प्रवर्तक आपश्री के परम आराध्यदेव श्रीतीर्थंकर प्रभु की प्रतिमा को विराजमान कराया तथा उनकी नित्य-प्रति पूजा-सेवा करने का आदेश ग्रामवासियों को दिया ।

यहाँ से विहार कर वि० सं० १९१९ (ई० स० १८६२) में आप गुजरांवाला में पधारे । यहाँ पर आकर आपने चतुर्विंशति तीर्थंकरों का एक स्तवन बनाया । आपश्री के प्रतिबोध देने से पंजाब में जिन-जिन नगरों के श्रावकों ने शुद्ध सनातन जैनधर्म को स्वीकार किया था उन-उन नगरों में श्रीजिनमंदिरों का निर्माण चालू हो चुका हुआ था । वि० सं० १९१८ (ई० स० १८६१) के दिल्ली के चतुर्मास में आपने रामनगर के मंदिर के लिए दिल्ली से श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथजी की प्रतिमा भिजवाई थी, जो बाद में वहाँ के मन्दिर में मूलनायक के रूप में स्थापित की गई थी । वि० सं० १९१९ (ई० स० १८६२)का चौमासा आपने गुजरांवाला में किया । चौमासे उठे आप के शिष्य भावविजय और रतनविजय भी गुजरांवाला में पहुँच गये । यहाँ आपने वि० सं० १९२० बैसाख वदि १३ (ई० स० १८६३) के दिन नवनिर्मित जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा करवाकर श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ को मूलनायक के रूप में विराजमान किया तथा जो प्रतिमाएँ यहाँ यति बसंतारिखजी के चौबारे में थी, उनको भी इसी मन्दिरजी में विराजमान कर दिया ।

गुजरांवाला में मन्दिर की प्रतिष्ठा कराकर आप पिंडदादनखाँ पधारे । वहां कुछ दिन स्थिरता करके रामनगर की तरफ विहार किया । रास्ते में चन्द्रभागा (चनाब) नदी पर पहुँचे । नदी को पार करने के लिए गुरुजी अपने शिष्यों के साथ नाव में बैठे । साथ में तपस्वी मोहनलालजी, गुजरांवाला मन्दिर का पुजारी बेलीराम, दिल्ली का

सेठ आदि भी सवार हो गये। जब नाव नदी के बीच मझधार में पहुँची तब बडे जोर की आँधी आयी। आकाश में घटाटोप अन्धकार हो गया। कुछ सूझ नहीं पडता था। नाविकों के होंसले पस्त हो चुके थे। नाव आँधी के पूर्ण वेग से डगमगाने लगी थी। सबने जीवन की आशा छोड दी। नाव बडे वेग से उल्टी दिशा को चल पडी। सब के चेहरों पर हवाइयाँ छूट रही थीं। सब की निगाहें गुरुदेव के चरणों की तरफ टिकटिकी लगाये कातर दृष्टि से निहार रही थीं। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा कि – "भाइयो ! कोई घबराने और चिंता की बात नहीं है। शासनदेव की कृपा से कोई भय नहीं है।" गुरुदेव के मुख से इतने शब्द निकलने की देर थी कि आँधी का वेग एकदम शांत हो गया और नाव सुरक्षित किनारे पर जा लगी। गुरुदेव का अपूर्व अतिशय देखकर श्रावकों के चेहरे एकदम प्रफुल्लित हो उठे।

नाव किनारे पर लगते ही सब लोग नाव से नीचे उतरे। तपस्वीजी इक्के पर सवार होकर, दिल्ली का सेठ घोडे पर सवार होकर और पुजारी बेलीराम पैदल चलकर तीनों रामनगर शहर में पहुंचे। इनके द्वारा गुरुदेव के चन्द्रभागा (चनाब) नदी के किनारे पर आ पहुँचने के समाचार पाकर नगरवासी हर्ष से नाचने लगे और आबालवृद्ध नर-नारियाँ सब गुरुदेव के दर्शनों को वहाँ जा पहुँचे। सब संघ के साथ गुरुदेव का प्रवेश रामनगर में हुआ।

कुछ दिन यहाँ स्थिरता करने के पश्चात् आप किला-दीदारसिंह और पपनाखा होते हुए गुजरांवाला पधारे। यहाँ दिल्ली से कुछ श्रावक भाई आये और गुरुदेव को विनती की कि "दिल्ली से हस्तिनापुर के लिये छ'री पालता यात्रासंघ जाने का निर्णय हुआ है।

वहाँ के सकल श्रीसंघ की भावना है कि यह संघ आपश्रीजी की निश्रा में जावे । संघ ने विनती करने के लिए आपश्री के पास हम लोगों को भेजा है । जो गुरुदेव ! आपश्री दिल्ली पधारने की कृपा करें ।'' गुरुदेवने उनकी विनती को मंजूर कर लिया और वि० सं० १९२० (ई० स० १८६३) का चौमासा रामनगर में करके पिंडदादनखाँ होते हुए गुजरांवाला में पधारे । वहां से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वि० सं० १९२१ (ई० स० १८६४) को दिल्ली पधार गये । यहां से छ'री पालते यात्रासंघ के साथ श्रीहस्तिनापुर की यात्रा कर वापिस दिल्ली पधारे और वि० सं० १९२१ (ई० स० १८६४) का चौमासा आपने दिल्ली में किया ।

चौमासा उठने के बाद फिर आपने पंजाब की तरफ विहार कर दिया । पानीपत, करनाल, अम्बाला, साढौरा, सामाना, पटियाला, मालेरकोटला आदि अनेक नगरों और ग्रामों में विचरते हुए आप गुजरांवाला में पधारे । यहाँ पर आपने जयदयाल बरड को प्रतिबोध दिया । कुछ दिन यहाँ स्थिरता करके वि० सं० १९२२ (वि० स० १८६५) का चौमासा आपने पुण्यविजय, मानकविजय, भावविजय के साथ पपनाखा में किया । वि० सं० १९२२ मिति आसोज सुदी १० (ई० स० १८६५) को पपनाखा में नवनिर्मित जिनमंदिर की प्रतिष्ठा करवाकर श्रीसुविधिनाथ भगवान को मूलनायक के रुप में गादीनशीन किया । चौमासे उठे आप गुजरांवाला पधारे । लोंकामती (स्थानकमार्गी) साधु खरायतीलाल का चेला गणेशीलाल था । होशियारपुर में गुरु-चेले की आपस में खटपट हो गई । तब गणेशीलाल मुँहपत्ती का डोरा तोडकर और अपने गुरु का साथ छोडकर गुजरांवाला में आपके पास चला आया और दीक्षा लेकर आपका शिष्य बना । उसका नाम आपने विवेकविजय रखा । वि०

सं० १९२२ (ई० स० १८६५) का चौमासा विवेकविजय और रतनविजय का गुजरांवाला में हुआ। बाद में विवेकविजय दीक्षा छोडकर यति हो गया। उसने मुर्शिदाबाद (बंगाल) में जाकर अपना नाम बदलकर भगवानविजय रख लिया। वह अपने आप को चेला तो बूटेरायजी का ही कहता रहा।

गुजरात में मुनिश्री नित्यविजय(नीतिविजय)जी ने डीसा में पांच श्रावकों को दीक्षा दी। दो को अपने चेले बनाया और तीन को पूज्य बूटेरायजी के नाम से दीक्षा देकर अपने गुरुभाई बनाया, उनके नाम क्रमशः मुक्तिविजय, भक्तिविजय, दर्शनविजय रखा।

वि० सं० १९२३ वैशाख सुदी ३ (ई० स० १८६६) को किला-दीदारसिंह में श्रीवासुपूज्य प्रभु को मूलनायक स्थापन करके श्रीजिनमंदिर की प्रतिष्ठा कराई। यहाँ के क्षेत्रपाल बडे प्रत्यक्ष थे।

अब आपकी भावना चर्चा (शास्त्रार्थ) करने की मंद पड गई थी। आप सोचते थे कि वाद-विवाद में क्या पडा है, कदाग्रही जीव बहुत हैं। जब चर्चा वितंडावाद का रूप धारण कर लेती है तब निर्णय तो कुछ होता नहीं, परन्तु राग-द्वेष की वृद्धि और हो जाती है। यदि कोई जिज्ञासु और तत्त्वनिर्णीषु सत्यमार्ग समझने का इच्छुक होगा तो उससे वार्तालाप करने से ही उसको विवेकदृष्टि जाग्रत हो सकती है। ऐसे व्यक्ति का समाधान करने में कोई हानि नहीं है। आपने वि० सं० १९२३ (ई० स० १८६६) का चौमासा रामनगर में किया। चौमासे उठे आपने गुजरांवाला होकर लाहौर की तरफ विहार किया। इन दिनों पिंडदादनखाँ का प्रसिद्ध श्रावक लाला देवीसहाय ओसवाल भावडा अनविध-पारख गोत्रीय व्यापार के लिए अमृतसर आया हुआ था। तब साधुमार्गी श्रावकों ने लाला

देवीसहाय से कहा कि "लालाजी ! तुमने बूटेराय का धर्म ग्रहण करके अपने पूर्वजों के धर्म को छोड दिया है । ऐसा करके तुमने बहुत अनुचित किया है। अपने पूर्वजों की इज्जत को बट्टा लगाया है और उनके नाम को कलंकित किया है। बूटेराय मूर्ति को मानता है, मुँह पर मुँहपत्ती बाँधता नहीं । वह साधु कैसे हुआ ? वह तो गृहस्थी ही हुआ न ?" लाला देवीसहायजी ने कहा - "हमारे पूर्वज तो पहले से ही जिनेश्वर प्रभु की मूर्ति की पूजा करते चले आ रहे हैं। उन्हीं का अनुकरण करके हम भी पूजा करते हैं। हमारे नगर में अब भी बडा प्राचीन जिनमन्दिर विद्यमान है, जिसमें तीर्थंकर देवों की प्रतिमाएं विराजमान हैं। हमने धर्म की परीक्षा कर ली है। जैनागमों के लेखानुसार ही (आगमों को वाँच और पढकर) हमने जान लिया है और इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि जिनप्रतिमा पूजना और मुखपत्ती मुख पर न बाँधना शास्त्रसम्मत है । इसलिए बूटेरायजी की श्रद्धा निःसन्देह आगमों के अनुकूल ही है । यही कारण है कि हमारे पिंडदादनखाँ के भाइयों ने मुनि बूटेरायजी को अपना गुरु माना है। यदि तुम लोगों ने भी सत्यधर्म को पाना हो तो उनके साथ धर्मचर्चा करके समझ लो। सत्य-असत्य का निर्णय हो जावेगा।" यह सुनकर अमृतसर के साधुमार्गी श्रावकों ने कहा कि "शाहजी ! बुलाओ बूटेरायजी को, हम चर्चा करने को तैयार हैं। निर्णय के बाद सच-झूठ की परीक्षा हो जावेगी । बूटेरायजी को यहां बुलाओ ।" तब लाला देवीसहायजी ने कहा कि "तुम लोग अपने अमरसिंह आदि साधुओं के साथ बूटेरायजी की चर्चा कराकर निर्णय कर सकते हो। यदि हमारी श्रद्धा खोटी होगी तो हम आप की श्रद्धा मान लेंगे । यदि तुम्हारी श्रद्धा खोटी होगी तो तुम अपना हठ छोडकर पूज्य

बूटेरायजी की श्रद्धा को स्वीकार कर लेना ।'' तब अमृतसर के लुंकामती (स्थानकमार्गी) बोले कि ''हमारे साधु तो यहां पर हैं ही, तुम बूटेरायजी को बुला लो । यहां चर्चा हो जावेगी और सच-झूठ का निर्णय हो जावेगा ।'' तब लाला देवीसहायजी ने कहा कि ''लिखो इकरारनामे का इष्टाम और उस चर्चा में दो साधु तुम्हारे, दो हमारे तथा दो विद्वान पंडित हमारे और दो पंडित तुम्हारे होंगे । ये चारों पंडित शब्दशास्त्र, कोष, व्याकरण आदि के जानकार और संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के जानकार होने चाहिएं । चर्चा के समय इनके साथ नगर के प्रतिष्ठित और प्रतिभावान चार-पाँच पुरुष भी साक्षी रूप से बैठेंगे । दो पुलिस के अधिकारी भी विद्यमान होंगे । ताकि कोई दंगा-फिसाद न होने पावे । यह सब लिखा-पढी हो जाने के बाद हम पूज्य बूटेरायजी को अमृतसर में बुलावेंगे ।'' तब वे लोग बोले-''हमें स्वीकार है । इस सभा में जो निर्णय होगा वह हम भी स्वीकार करने को तैयार है ।'' तब लाला देवीसहायजी ने कहा- ''तो अच्छी बात है; तुम लोग सरकारी कागज (इष्टाम) मंगवाओ । इस पर इकरारनामा लिखकर सब के हस्ताक्षर हो जाने चाहिएं ।'' तब कहने लगे- ''हां हां लिखो लिखो !'' पर कागज लिखने के लिए तैयार न हुए । टालमटोल करते चले गए । इस प्रकार चार-पाँच दिन बीत गए ।

पूज्य बूटेरायजी को इस बात की कोई खबर भी नहीं थी । आप विहार करते हुए लाहौर आ पहुंचे । यह बात वि० सं० १९२३ फागुन मास (ई० स० १८६६) की है । पर भावी को कौन टाल सकता है । जब अमृतसर में लाला देवीसहाय को आपके लाहौर आने का पता लगा तो उसने आपको अमृतसर में लाने के लिए तुरत

एक आदमी को लाहौर भेजा। समाचार मिलते ही आपने अमृतसर के लिए विहार कर दिया। अब देवीसहायजी ने अमृतसर के स्थानकमार्गी भाइयों से कहा कि पूज्य बूटेरायजी ने लाहौर से अमृतसर आने के लिए विहार कर दिया है। वह दो-चार दिनों में ही अमृतसर पहुंच रहे हैं। यह सुनतें ही अमरसिंह ने यहाँ से विहार की तैयारी कर ली। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसने लाहौर की तरफ विहार कर दिया। तब देवीसहायजी ने यहां के साधुमार्गी श्रावकों से कहा कि "गुरुमहाराज बूटेरायजी तो अमृतसर पहुंच रहे हैं, इस लिए अमरसिंहजी को रोको, ताकि चर्चा करके सच-झूठ का निर्णय कराया जा सके।" तब कहने लगे कि "बूटेरायजी बडे है और अमरसिंहजी छोटे है इसलिए यह आपका स्वागत करने जा रहे है।" यह कहकर अमरसिंहजी ने अमृतसर से विहार कर दिया। वह आपको रास्ते में मिले। आपने अमरसिंहजी से कहा कि- "मैं तो तुम्हारे पास आ रहा हूँ और तुम वहाँ से विहार कर आये हो ?" वह बातों ही बातों में टालमटोले करके लाहौर की तरफ विहार कर गया और आप अमृतसर की ओर रवाना हो गए। लाला देवीसहाय ने कहा कि अमरसिंह मैदान छोडकर भाग गया है। देवीसहाय ने चार-पांच भाइयों को अमरसिंहजी को बुलाने के लिए लाहौर भेजा। अमरसिंह ने कहा कि "मैं मासकल्प पूरा करने पर आऊंगा।" अमरसिंहने समझा था कि देवीसहाय और बूटेरायजी कब तक अमृतसर में बैठे रहेंगे ? उन भाइयों ने अमृतसर वापिस आकर देवीसहायजी से कहा कि "ऋषि अमरसिंहजी मासकल्प पूरा करके यहाँ आवेंगे।" तब लाला देवीसहायजी समझ गए कि उनके विचार चर्चा करने के नहीं हैं। तब देवीसहायजी स्वयं लाहौर

गये और अमरसिंहजी के पास जाकर कहा – "आप चले क्यों आये ? अमृतसर चलकर चर्चा करिये ।" तब अमरसिंह ने कहा कि– "बूटेराय क्या चर्चा करेगा, उसका चर्चा करने का सामर्थ्य[१] ही क्या है ? हमने अनेक बार उसे झूठा प्रमाणित किया है" इत्यादि कहकर उसने फिर टालमटोल कर दिया । तब देवीसहायजी ने समझ लिया कि अमरसिंह की चर्चा करने की हिम्मत नहीं है । यह मात्र शेखी ही बघारता है । राग–द्वेष का पिंड है । लाचार होकर वह अपने घर पिंडदादनखाँ वापिस चला गया । बूटेरायजी भी जंडियाला–गुरु में चले गए । जब अमरसिंह को मालूम हुआ कि आप अमृतसर से विहार कर गए हैं तो कुछ दिनों बाद वह अमृतसर आ पहुंचा । जब आपको पता लगा कि अमरसिंह अमृतसर पहुंच गया है तब आप भी दो साधुओं को अपने साथ लेकर अमृतसर आ गये ।

अमरसिंह ने भी जहां–जहां उसके योग्य साधु थे उन सबको अमृतसर में बुला लिया । पच्चीस–तीस साधु इकट्ठे हो गए । इन लोगों ने पोथी–पन्ने भी बहुत इकट्ठे किये । आपने सोचा कि हमारे पास भी शास्त्रों की कमी नहीं है, जब जरूरत होगी तब मंगवा लेंगे । चर्चा का दिन निश्चित हो जाने पर देवीसहाय को बुला लेंगे और शास्त्र भी मंगवा लिए जावेंगे । आपने अमरसिंह को चर्चा का दिन निश्चय करने के लिए कहला भेजा । उसने कहला भेजा कि "हम रात को पानी रखने की चर्चा नहीं करेंगे, पर मुखपत्ती और

१. वि० सं० १८९९ (ई० स० १८४३) को स्यालकोट में अमरसिंह ने आपके साथ चर्चा की थी, उस–से वह अपने पक्ष की निर्बलता को जानता था । इसलिये चर्चा से लाभ की आशा न होने से वह चर्चा को ठालमठाल करके बचने की चेष्टा में था ।

जिनप्रतिमा की चर्चा बत्तीस-सूत्रों के आधार से करेंगे।" आपने कहला भेजा कि "इन दोनों विषयों की चर्चा के लिए आप और आपका संघ स्वीकार करके लिखित रूप से स्थान, समय आदि का निर्णय करके हमको भेजें, ताकि व्यवस्थित चर्चा करके सच-झूठ का निर्णय हो सके। चर्चा के विषय ये होंगे —

१- क्या बत्तीस सूत्रों में साधु-साध्वीयों के लिए मुँहपत्ती में डोरा डाल कर मुख पर बाँधने का विधान है ? अथवा हाथ में रखकर मुख के आगे रखने का विधान है ?

२- जिनप्रतिमा को साधु-साध्वी वन्दन करे अथवा नहीं ? श्रावक-श्राविका गृहस्थ जिनप्रतिमा की पुष्पादि से पूजा करे अथवा नहीं ? जिनप्रतिमा का पूजन-वन्दन करने से कर्म की निर्जरा होती है अथवा पुण्य का बन्ध होता है या पाप का बन्ध होता है ?

इसके निर्णय के लिए संस्कृत-प्राकृत के निष्पक्ष विद्वान चार पंडित तथा नगर के चार-पांच निष्पक्ष प्रतिष्ठित साक्षर व्यक्ति और सरकार के दो अधिकारी उस सभा में विद्यमान रहने आवश्यक हैं। ताकि चर्चा में वाद-विवाद को सुनकर निष्पक्ष निर्णय दे सकें और किसी किस्म का लडाई-झगडा न हो। इस बात के निर्णय के लिए मूल सूत्रों पर टब्बेवाले बत्तीस सूत्र तथा मूल सूत्रों पर पूर्वाचार्यों द्वारा कृत निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, भाष्य आदि सहित बत्तीस सूत्र; इन दोनों का चर्चा में मिलान किया जावेगा। इससे जो निर्णय दिया जावेगा वह प्रमाण है।

यदि यह पद्धति से अमरसिंह ने अथवा तुम्हारे किसी अन्य साधु ने निर्णय करना हो तो चर्चा की स्थापना कर लें। जिस दिन, जितने समय, जिस स्थान पर आप लोगों की तरफ से जिस जिस ने

चर्चा करनी हो उनके नाम सहित सब लिखकर भेजें। चार निष्पक्ष पंडितों तथा चार-पाँच साक्षर निष्पक्ष प्रतिष्ठित नागरिकों के नाम भी निश्चय हो जावें। इस प्रोग्राम की सूचना थाने में भी दे दी जावे ताकि उस समय पुलिस के दो-तीन अधिकारी भी बुला लिए जावें।

यदि तुम्हें यह बात स्वीकार नहीं है और चर्चा करना नहीं चाहते हो तो तुम जानो, हम तो अपने श्रद्धान में दृढ हैं ही। व्यर्थ में झगडा-फिसाद करना तथा राग-द्वेषवश कर्मबन्धन करना उचित नहीं है।''

अमरसिंह ने कहला भेजा कि ''हम निर्णय के लिए ब्राह्मण नहीं बुलायेंगे। हम तो अपनी तरफ से ईसाई पादरी बिठलावेंगे।'' तब आपने कहला भेजा कि ''तुम लोग अपनी तरफ से चाहे किसी को बिठलाओ, पर जो लोग संस्कृत, प्राकृत आदि शास्त्रीय भाषाओं के शब्दार्थ, व्याकरण तथा जैनागमों में आनेवाले शब्दों के अर्थों को समझते हों, शब्दकोष के अर्थों के ज्ञाता हो ऐसे व्यक्तियों को बिठलाना चाहिए, जो दोनों पक्षों को समझकर निष्पक्ष निर्णय दे सकें। तभी सच-झूठ का निर्णय संभव है।''

परन्तु वे लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुए और चर्चा की बात को टालते ही चले गए। अन्त में कहने लगे कि ''खिम्मत-खामना कर लो।'' लाला उत्तमचन्द श्रावक आपकी श्रद्धावाला था, उनके श्रावक उसके घर पर गए। उससे कहने लगे कि ''भाई साहब ! आपके घर तो दो-चार ही हैं। चर्चा होने से दूसरे नगरों से भी तुम्हारे पक्ष के बहुत लोग आवेंगे। हमारे पक्ष के भी बहुत आवेंगे। हम और तुम पर भारी खर्चे का बोझ पड जावेगा तथा राग-द्वेष भी बढेगा। आपस में रिश्तेदारियों में मनमुटाव भी

हो जावेगा । इसलिए अमरसिंहजी के चर्चा न करके खिम्मत-खामना के भाव हैं । बूटेरायजी और अमरसिंहजी का आपस में खिम्मत-खामना करा दो ।'' तब दोनों पक्ष के श्रावक मिलकर आपके पास आये और कहने लगे कि - ''स्वामीजी[१] ! अमरसिंहजी कहते हैं कि बूटेरायजी के साथ मैं चर्चा करना नहीं चाहता । वह कहता है कि ''वे मेरे से बडे हैं, मैं तो उनसे खिम्मत-खामना करना चाहता हूँ ।'' तब आपने पूछा कि ''तुम लोग अमरसिंहजी से पूछकर आये हो अथवा अपनी तरफ से कहते हो ?'' उन्हों ने कहा कि ''हमें अमरसिंहजी ने भेजा है और कहला भेजा है कि 'मेरे चर्चा करने के भाव नहीं हैं, मैं तो खिम्मत-खामना करना चाहता हूँ । चाहे श्रीबूटेरायजी मेरे यहाँ आ जावें, चाहे मैं उनके यहाँ चला जाऊंगा । जैसी उनकी इच्छा हो वैसा मैं करने को तैयार हूँ ।'' जब आपके पास ये समाचार पहुंचे तब आपने सोचा कि ''यदि अमरसिंह के परिणाम विनम्र हो गए हैं और उसकी भावना खिम्मत-खामना करने की है तो व्यर्थ में मैं भी खेंचातान क्यों करुं ? यदि जीव सद्बोध पावेगा तो अपने सरल परिणामों से, क्षयोपशम से, पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से पावेगा । इसलिए मुझे भी खिम्मत-खामना कर लेनी चाहिये ।'' फिर सोचा कि ''खिम्मत-खामना के लिए अमरसिंह को यहाँ आने के लिये बुलाऊं अथवा मुझे उसके पास जाना चाहिये ? उसको खिम्मत-खामना के लिए यहाँ बुलाना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि मुझे बडप्पन का अभिमान नहीं करना चाहिए । अभिमान चारों कषायों को उत्पन्न करने की भूमिका है । अतः मुझे स्वयं जाना चाहिए । यदि

१. स्थानकमार्गी अपने साधुओं को स्वामीजी के नाम से संबोधित करते थे ।

अमरसिंह अपने आप आता तो और बात थी। वह स्वयं नहीं आया और मैं उसे बुलाऊं यह अनुचित प्रतीत होता है। उसका स्थानक एक गली छोडकर दूसरी गली में तो है ही, बहुत नजदीक है।" यह सोचकर आपने आये हुए भाइयों से कहा – "आप लोग जाइए, मैं स्वयं वहाँ आकर खिम्मत–खामना कर लूंगा, मुझें वहाँ आने में क्या देर लगेगी।" आपने वहाँ जाकर अमरसिंह से खिम्मत–खामना कर ली। अमरसिंह ने भी आप से खिम्मत–खामना कर ली। द्रव्य (ऊपर) से तो खिम्मत–खामना हो गई। भाव से तो जैसे जिसके परिणाम हो वैसी खिम्मत–खामना। भाव तो ज्ञानी जाने अथवा करनेवाला। आप तो खिम्मत–खामना करके अपने ठिकाने पर आ गये। इतने में उन लोगों की तरफ से यह बात सर्वत्र फैला दी गई कि "पूज्य अमरसिंहजी के पास आकर बूटेराय ने क्षमा मांग ली है और वह कह गया है कि 'मैं चर्चा नहीं करूंगा।' देखो भाइयों ! आज हमारे पूज्यजी के साथ चर्चा करने को कोई भी समर्थ नहीं है।" जब यह बात अपने भाइयों तथा आपके पास पहुंची तो सब को बडा विस्मय हुआ कि यह बात क्या हो गई है ? जो सच्चे थे वे झूठे हो गए और जो झूठे थे वे सच्चे हो गये। तब आपके श्रावकों ने यह निर्णय किया कि जब पूज्य बूटेरायजी अमरसिंह के वहाँ जाकर खिम्मत–खामना कर आए हैं तो अमरसिंह का भी नैतिक फर्ज हो जाता है कि वह पूज्य बूटेरायजी के पास आकर खिम्मत–खामना करे। परन्तु यह आया नहीं, इसलिये उसको कहला भेजना चाहिये। दूसरे दिन अमरसिंह ने अपने सब साधुओं के साथ विहार करने की तैयारी कर ली। अपने भाइयों की तरफ से लाला उत्तमचन्दजी, जंडियाला गुरुवाले भाई तथा जयपुरवाले भाई मोतीचन्द ये चार–

पाँच भाई अमरसिंह के पास गए । वहाँ जाकर जयपुरवाले भाई मोतीचन्द ने अमरसिंहजी से कहा कि "आप तो चलने को तैयार हो गये, आपको चाहिए था कि जैसे पूज्य बूटेरायजी आपके पास आकर खिम्मत-खामना कर गए हैं, वैसे ही आपको भी चाहिये था कि यहाँ से रवाना होने से पहले स्वामीजी के पास जाकर खिम्मत-खामना करने के बाद विहार करें । पूज्य बूटेरायजी तो आपसे बडे हैं, वह आपके पास आकर खमा गये हैं । आप तो उनसे छोटे हैं, इसलिये आपको भी उनसे खमा आना चाहिये था ।" तब अमरसिंहजी के श्रावक आगबबूला हो गये और एकदम क्रोधावेष में आकर जयपुरवाले मोतीचन्दभाई को मारने के लिये उद्यत हो गये । कहने लगे- "खिम्मत-खामना हो तो गया है । तुम लोग ही साधुओं को लडाते हो । जाओ यहाँ से निकल जाओ ।" इस प्रकार वे लोग शोरगुल करके अपना बचाव कर गये । परन्तु अमरसिंहजी ने उस दिन विहार नहीं किया । दूसरे दिन प्रातःकाल जब आप बाहर जंगल (टट्टी-पेशाब) करने के लिए गए तब अमरसिंहजी भी आपके साथ गये । वह आपसे कहने लगे कि "स्वामीजी ! मुझे आपके पास आने में कोई भय नहीं है, परन्तु लोग बडे विचित्र हैं, कुछ करने नहीं देते । मैं तो आपको बार-बार खमाता हूँ ।" अमरसिंहजी उसी दिन विहार कर गए । आपने सोचा कि "यह दुषम-पंचमकाल है, लोग कदाग्रही बहुत हैं, आत्मार्थी जीव बहुत थोडे हैं । जो जीव जिज्ञासु है वही धर्मकी खोज तथा तत्त्वों का सम्यग् बोध पाकर प्रतिबोध पा सकता है । कहा भी है कि "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ ।"

अब आपने भी अमृतसर से विहार कर दिया । ग्रामानुग्राम विचरते हुए आप रामनगर पहुँचे । यहाँ पर भी आपके उपदेश से नया जिनमंदिर बनकर तैयार हो चुका था । प्रतिष्ठा का मुहूर्त वि० सं० १९२४ बैसाख वदि ७ (ई०स० १८६७) का निकल चुका था । यहाँ के श्रीसंघ ने पहले निश्चय किया था कि दिल्ली से आई हुई श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथजी की प्रतिमा को मूलनायक के रूप में गादीनशीन किया जावेगा । परन्तु फिर श्रीअजितनाथजी की प्रतिमा को गादीनशीन करने का निर्णय हुआ ।

चमत्कार

प्रतिष्ठा का दिन समीप आ गया । कल प्रतिष्ठा होनेवाली है । श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा अन्य प्रतिमाओं के साथ विराजमान है । यह प्रतिमा सहसा अपने आप पट्टे पर सरकने लगी । पुजारी बाजार में दौडा आया । यहाँ पहुंचकर उसने सब भाइयों को यह घटना सुनाई । सकल श्रीसंघ गुरुदेव बूटेरायजी को साथ में लेकर श्रीमंदिरजी में इकट्ठा हो गया । प्रतिमाजी को सरकते देख कर सब लोग आश्चर्य-चकित हो गए । सबने मिलकर प्रभु से सविनय सानुनय प्रार्थना की कि ''प्रभुजी ! आपकी हम लोगों से क्या अविनय-आशातना हुई है इसका हमें तो कोई पता नहीं है। हम सब छद्मस्थ हैं, भूल के पात्र हैं । आप तो कृपासिंधु है । यदि हम लोगों से कोई अनुचित बात हो गयी हो तो हम सब को क्षमा कीजिये । हे क्षमानिधि ! यदि किसी भी उपाय से हम लोगों को हमारी भूल मालूम पड जावे, तो हम उसके लिये पश्चात्ताप करने और दण्ड लेने को भी तैयार हैं ।'' सब लोग प्रार्थना करके अपने घरों और दुकानों पर लौट गए, पर चैन किसी को नहीं था । सब बहुत

ही गमगीन हो रहे थे। न भूख–प्यास थी और न ही आँखों में नींद थी। रात्री को गुरुदेव पूज्य बूटेरायजी को स्वप्न में श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ प्रभु की इसी प्रतिमा के दर्शन हुए। प्रभुजी ने अपने श्रीमुख से फरमाया कि "जब तुम लोगों ने पहले यह निर्णय किया था कि गादीनशीन श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथजी को किया जावेगा, तो उसी निर्णय पर तुम लोगों को कायम रहना चाहिए था। इसमें फेरफार नहीं हो सकता। गादीनशीन चिन्तामणि पार्श्वनाथ ही होंगे।"[१]

प्रातःकाल होते ही गुरुदेव प्रतिक्रमण आदि करके निवृत्त हुए और सब भाइयों को बुला कर कहा कि "मुझे रात को श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथजी की प्रतिमा के दर्शन हुए हैं और उन्होंने कहा है कि मूलनायकजी की गादी पर आपको ही विराजमान किया जावे। आप लोगों को अपने पहले निर्णय पर कायम रहना चाहिए। आज प्रतिष्ठा का दिन है, इसलिए श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथजी को ही गादीनशीन किया जावेगा। प्रतिष्ठा ठीक मुहूर्त पर की जावेगी।" सकल श्रीसंघ एकत्रित हो गया और वि० सं० १९२४ वैशाख वदि ७ के दिन बडी धूमधाम के साथ श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ प्रभु को मूलनायक के रूप में गादीनशीन करके प्रतिष्ठा हो गई।

गुजरात की एक वृद्ध श्राविका के पास श्रीपार्श्वनाथ की पन्ने की प्रतिमा थी। वह बुढिया अकेली ही थी। पूज्य गुरुदेवने यह

---

१. यह चमत्कार प्रतिमा द्वारा श्रीपार्श्वनाथ प्रभु के शासनदेव श्रीधरणेन्द्र ने किया। सकल श्रीसंघ की प्रार्थना करने पर उसी देव ने स्वप्न में गुरुदेव को कहा।

२. पूज्य गुरुदेवने इस घटना से कहा कि "यह प्रतिमा चमत्कारी होने से यह अतिशय तीर्थ माना जावेगा। परन्तु श्रावक लोगों की यहाँ बस्ती नहीं रहेगी। वे व्यापार धंधे के लिये अन्यत्र चले जावेंगे।" बाद में ऐसा ही हुआ।

प्रतिमा रामनगर के श्रावक गंडूशाह गद्दिया को दिला दी, जो आजतक उनके वंशजों के पास है। पाकिस्तान बनने के बाद ये लोग लुधियाना में निवास करते हैं।

वि० सं० १९२४ (ई० स० १८६७) का चौमासा आपने रामनगर में किया। चौमासे उठे आपने यहाँ दो लुंकामती साधुओं को संवेगी दीक्षा दी। ये रूढा-ऋषि का शिष्य ऋषि गुलजारीमल और उस का शिष्य ऋषि चन्दनलाल थे। ये दोनों गुरुचेला उत्तर प्रदेश में जिला मेरठ के बिनोली गाँव के थे। संवेगी दीक्षा देकर आपने इनके नाम क्रमशः मोहनविजय और चन्दनविजय रखे। आपने मोहनविजय को अपना शिष्य बनाया और चन्दनविजय को मोहनविजय का शिष्य बनाया।

दीक्षा देने के बाद आप यहाँ से विहार कर किला-सोभासिंह पधारे। वहाँ के नवनिर्मित जिनमंदिर की प्रतिष्ठा वि० सं० १९२४ में कराकर श्रीशीतलनाथ प्रभु को मूलनायक स्थापित किया। यहाँ से विहार कर आप मालेरकोटला, पटियाला, सामाना, सुनाम आदि नगरों में विचरे। कुछ दिन स्थिरता कर आप लम्बा विहार कर पिंडदादनखाँ पधारे और वि० सं० १९२५ (ई० स० १८६८) का चौमासा वहाँ पर किया। पश्चात् वि० सं० १९२६ वैशाख सुदि ६ (ई० स० १८६९) को यहाँ श्रीमंदिरजी की प्रतिष्ठा कराकर श्रीसुमतिनाथ भगवान को मूलनायक स्थापित किया। यहाँ पर जिनमंदिर अति प्राचीन काल से विद्यमान था तथा श्रावक भी इसी धर्म के उपासक थे। पश्चात् आप गुजरांवाला में पधारे और वि० सं० १९२६ (ई० स० १८६९) का चौमासा गुजरांवाला में किया।

चौमासे उठे आपने अपने शिष्यों के साथ गुजरात देश की तरफ विहार किया।

आपके गुजरांवाला से रवाना होते समय यहां के लाला कर्मचन्दजी दूगड आदि प्रमुख श्रावकों ने गुरुजी से अभी पंजाब में ही विचरने की विनती की और प्रार्थना की कि– "आपश्री गुजरात चले जा रहे हैं। आपके चले जाने के बाद हम लोग क्या करेंगे ? क्योंकि यहां सारे पंजाब में लुंकामती छाये हुए हैं। सर्वत्र इन्हीं का जोर है। संवेगी साधुओं के यहां न विचरने से आपने जो पंजाब में बहुत महा उपसर्ग, परिषह तथा कष्ट उठा कर हम लोगों का उद्धार किया है उसका उदाहरण खोजने से नहीं मिलता। कई–कई दिनों तक आहार–पानी न मिलने से आपने संतोषपूर्वक समय व्यतीत किया है। परन्तु अपने कार्य के वेग में कमी नहीं आने दी। सारे पंजाब में शुद्ध जैनधर्म का डंका बजाया है। अनेक नगरों और गांवों में जिस बीज को आपने वपन किया है अब तो उसको सिंचन करने की जरूरत है। आपके यहाँ से चले जाने के बाद यहाँ फिर इन का जोर बढेगा, इन के प्रचार से जिनमंदिरों को फिर ताले लग जावेंगे।

गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा– "भाइयो ! क्यों घबराते हो ? मेरे यहाँ से जाने के बाद कोई ऐसा पुण्यवान जीव अवश्य निकलेगा जो सारे पंजाब में सत्यधर्म का डंका बजावेगा। थोडे वर्ष और धैर्य रखो।"[१]

---

१. वि० सं० १९२१ से स्थानकमार्गी वेष में विचरते हुए भी आत्मारामजी महाराज ने शुद्ध सनातन मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैनधर्म का प्रचार पंजाब में शुरू कर दिया था। उस समय गुरुदेव बूटेरायजी पुनः पंजाब में पधार चुके थे। यहां जिनमंदिरों के निर्माण तथा प्रतिष्ठाओं का कार्य भी चालु था। यद्यपि वि० सं० १९२६

आप गुजरांवाला से विहार कर लाहौर, जालंधर, लुधियाना आदि अनेक नगरों और ग्रामों में विचरते हुए बीकानेर पधारे। वि० सं० १९२७ (ई० स० १८७०) का चौमासा यही पर किया।

गुजरात में पुनः आगमन

गुजरात में मुनि श्रीमूलचन्दजी और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी आपके इन दोनों शिष्योंने जब यह सुना कि गुरुजी बीकानेर से गुजरात पधारने के लिये विहार कर चुके हैं, तब वि० सं० १९२७ (ई० स० १८७०) (गुजराती सं० १९२६) का चौमासा मुनिश्री वृद्धिचन्दजी का राधनपुर में था और मुनिश्री मूलचन्दजी का चौमासा अहमदाबाद में था। चौमासे उठे वृद्धिचन्दजी महाराज राधनपुर से विहार कर अहमदाबाद पधार गये। दोनों गुरुभाईयों ने गुरुजी के दर्शन, सन्मान, अगवानी (स्वागत) और मिलने के लिये चार साधुओं के साथ अहमदाबाद से विहार कर दिया। पाटन, पालनपुर आदि होकर पाली पहुंचे और वहां गुरुमहाराज के साथ जा मिले। गुरुमहाराज के बहुत वर्षों के बाद दर्शन होने से परम हर्ष, आनन्द और आह्लाद हुआ। कुछ दिन वहां स्थिरता कर आप सब ने गुजरात की तरफ विहार किया। रास्ते में आबूजी तीर्थ की यात्रा करके अपूर्व जिनप्रतिमाओं के दर्शन करके और अपूर्व शिल्पकला को देखकर आप मुनिराजों के हृदय गद्गद हो गये। अगणित

(ई० स० १८६९) तक संवेगी वेष में पूज्य बूटेरायजी और स्थानकमार्गी वेषमें पूज्य आत्मारामजी (दोनों महापुरुषों) का परस्पर मिलने का अवसर आया हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला तो भी यह बात तो निःसंदेह है कि दोनों को एक-दूसरे की श्रद्धा समान होने का पता था। इस लिये ऐसा लगता है कि पूज्य बूटेरायजी का यह संकेत श्रीआत्मारामजी के लिये ही था। यद्यपि इस समय दोनों पंजाब में सद्धर्म का प्रचार कर रहे थे तथापि परस्पर साक्षात्कार नहीं हुआ था।

धनराशी खर्च करके इन जिनमंदिरों का निर्माण करानेवाले विमलशाह तथा वस्तुपाल-तेजपाल आदि के द्रव्यमूर्च्छा के त्याग का परिचय पाकर उनकी तीर्थंकर भगवन्तों के प्रति भक्ति और जिनशासन के प्रति दृढ-श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले । यहां से विहार कर रास्ते में अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए आप सब मुनिराज अहमदाबाद पधारे और वि० सं० १९२८ (गुजराती १९२७) (ई० स० १८७१) का चौमासा अहमदाबाद में किया ।

पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी के वि० सं० १९१६ (ई० स० १८५६) को गुजरात से पंजाब के लिये विहार करजाने पर मुनिश्री मूलचन्दजी और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी उनके साथ पंजाब न जाकर गुजरात और सौराष्ट्र में ही रहे । क्योंकि पंजाब के समान यहाँ पर भी यतियों-श्रीपूज्यों तथा लुंकामती साधुमार्गियों का बडा जोर था एवं स्थिरवासी संवेगी साधुओं में शिथिलता का बोलबाला भी था । इस लिये यहाँ पर भी बहुत उद्धार की आवश्यकता थी ।

यतियों और श्रीपूज्यों का जोर

मुनिश्री मूलचन्दजी तथा मुनिश्री वृद्धिचन्दजी महाराज ने सर्वत्र सौराष्ट्र तथा सर्वत्र गुजरात में भावनगर, पालीताना, अहमदाबाद आदि नगरों में वि० सं० १९११ (ई० स० १८५४) से विचरने का श्रीगणेश किया । उस समय सारे सौराष्ट्र और गुजरात में यतियों, श्रीपूज्यों का जोर था । इसलिये संवेगी साधु-साध्वीयों का इस क्षेत्र में विचरना असंभव था । यहाँ का श्रावक-समुदाय यतियों और श्रीपूज्यों के शिकंजे में पूर्णरूप से जकडा हुआ था । इन लोगों को संवेगी साधु फूटी-आंखों नहीं सुहाते थे । ये लोग संवेगी साधुओं को व्याख्यान भी नहीं करने देते थे । यदि कोई करता तो ये लोग

रोक लगा देते थे । कारण यह था कि साधुवेष में श्रीपूज्य गच्छाधिपति बन कर अयोग्य मार्ग में चलते थे । संघ में उन्हें कोई रोकनेवाला भी नहीं था । जैन शास्त्रों में आचार्य के लक्षण जो कहे हैं उनके एकदम प्रतिकूल अनेक प्रकार के आरंभ–समारंभ करनेवालों को, पालकी आदि सवारी में बैठनेवालों को, द्रव्यादि संग्रह करनेवालों को, सचित्त आहार–पानी सेवन करनेवालों को आचार्य मानना; उन को घर में बुलाकर पधरामणी करना, द्रव्यादि भेट करना, केसर–कुंकुम आदि से चरण–पूजा करके सोने की मोहरों और गिन्नियों से नवांगी पूजा करना और वे मोहरें आदि उनको दे देना; शिथिलाचारी होने पर भी स्त्रियों को बेरोक–टोक उनके पास जाने देना; धागा–डोरा आदि लेकर वांछित–प्राप्ति की निष्फल आशा करना; इन सब मूर्खताभरी मान्यताओं से पतन के मार्ग को प्रोत्साहन मिलता था । इससे लुंकामतियों को शुद्ध चारित्रवान संवेगी मुनिराजों की भी निन्दा करते हुए अपने पंथ के प्रचार में प्रोत्साहन मिलने लगा था ।

पूर्वकाल में कोई–कोई यति–श्रीपूज्य परिग्रह की मूर्च्छावाले होने पर भी वे जैनधर्म के अनुरागी थे, सच्चरित्र तथा त्यागी थे, स्त्रीसंसर्ग से अलग रहते थे, धर्मकार्यों में शूरवीर थे, राजाओं–महाराजाओं को भी प्रतिबोध करने में समर्थ थे, धर्म की उन्नति करनेवाले थे; अपनी भूलों को स्वयं समझकर उन्हें सुधारते थे; शुद्धधर्म में चलनेवाले साधु–त्यागियों की प्रशंसा करनेवाले थे; शुद्ध मार्ग के इच्छुक थे, विद्या–व्यसनी थे और इस की प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्नशील भी रहते थे; वाद–विवाद में विजय प्राप्त करते थे, खोटे आडम्बर और दंभ से दूर रहते थे । जहाँ मुनिराजों का

आवागमन तथा विहार का अभाव होता अथवा उनका विहार संभव न होता, ये लोग उन क्षेत्रों को संभालते। वहाँ के श्रावक-श्राविकाओं में धर्म-संस्कार सुदृढ रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। अनेक क्षेत्र ऐसे भी हैं जहां पर इन्होंने ही जैनधर्म का निःसन्देह संरक्षण किया है और उसकी अभिवृद्धि भी की है।

परन्तु वर्तमान यतियों-श्रीपूज्यों में यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती। अब तो ये लोग अधिकतर घर-गृहस्थी बसाकर विवाहित होने लग गये हैं। इसलिये श्रीजैन निर्ग्रंथ मुनि के वेष की ओट में होनेवाले अनर्थों का सब धर्म-प्रेमियों के द्वारा प्रतिकार किया जाना परमावश्यक है। जब तक सारा जैन समाज इस अनर्थ को उखाड फैंकने के लिये संगठित होकर प्रयत्नशील नहीं होगा, तब तक ऐसे अनाचार का सर्वथा निवारण नहीं हो सकता। इस की उपेक्षा करना जैनसमाज को पतन के गर्त में धकेलना है। इसलिये इनकी भक्ति से दूर रहना परमावश्यक है, जिससे समाज पतन से बचे और इनको भी उन्मार्गी बनने का प्रोत्साहन न मिले।

मुनि मूलचन्दजी और मुनि वृद्धिचन्दजी के ज्ञान, त्याग, वैराग्यमय चारित्र की श्रावक-श्राविका वर्ग पर बहुत ही सुन्दर छाप पडी। इनके उपदेश में बहुत प्रभाव था। आपने संघ में अमृत छींटना शुरू कर दिया। यह सारी बात लोगों के दिलों में बिठला दी गई कि त्याग-वैराग्यमय चारित्रवान ज्ञानी मुनिराज ही सुपात्र है और इनकी भक्ति से ही आत्मकल्याण संभव है। जो लोग शिथिलाचारियों के भक्त बन चुके थे, उन्हें उपदेश द्वारा समझाकर प्रयासपूर्वक कंटकाकीर्ण क्षेत्रों को साफ करके उनमें धर्म के बीज बोये।

अब विशेष रूप से श्रावक-श्राविकायें शुद्ध आचारवाले संवेगी साधुओं के अनुरागी बनने लगे। यतियों और श्रीपूज्यों को **पंजाबी त्रिपुटी** की यह महत्ता सहन न हुई। इन मुनियों ने श्रीपूज्यों के आगत-स्वागतों में जाना भी बन्द कर दिया, वन्दना-सत्कार भी बन्द कर दिया, श्रीपूज्यों की कृपा पर अवलंबित रहना भी बन्द कर दिया और इनके द्वारा पदवी पाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार साधुओं पर से यतियों और श्रीपूज्यों की सत्ता समाप्त हो गई। इन लोगों ने अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिये मुनि मूलचन्दजी को कहला भेजा कि "आप लोग यहाँ श्रीपूज्य के पास आओ और कम से कम इनकी स्थापना पर एक रूमाल ही चढा जाओ।" मुनि मूलचन्दजी महाराज ने स्पष्ट रूप से कहला दिया कि "हम साधुओं के पास ऐसे रूमाल नहीं हैं। यदि हों तो भी ओढावेंगे नहीं।" आप लोगों के प्रयासों से सारे सौराष्ट्र और गुजरात से यतियों और श्रीपूज्यों की सत्ता धीरे-धीरे एकदम उठ गयी।

दूसरी तरफ गुरुजी के आदेश के अनुसार मुनिश्री मूलचन्दजी महाराज दिन-प्रतिदिन संवेगी मुनियों की दीक्षाएं देकर त्यागी चारित्रवान मुनियों की संख्या में वृद्धि करने लगे। इस प्रकार बूटेरायजी महाराज का परिवार विशेष वृद्धि पाया। इन मुनिराजों के सर्वत्र सतत विहार से यतियों-श्रीपूज्यों का जोर तो कम हुआ ही, साथ ही श्रावक-श्राविकायें संवेगी साधुओं के अनुरागी भी बनने लगे। ऐसा होने से संवेगी मुनिराजों का विहार सुगम हो गया। गुजरात और सौराष्ट्र में तो सब प्रकार से परिस्थिति सुधरी। मुनियों के विहार की तत्परता के कारण लुंकामती स्थानकमार्गीयों का प्रभाव भी कम होने लगा। इस प्रकार शुद्ध जिनमार्ग का संरक्षण होकर

वीतराग केवली सर्वज्ञ–सर्वदर्शी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित श्वेताम्बर जैनधर्म की सर्वत्र पताका लहराने लगी ।

ये साधु एक जगह डेरे डालकर पडे नहीं रहते थे । इन के सतत सर्वत्र विहार से बहुत से क्षेत्रों को लाभ हुआ और उपकार भी बहुत हुआ ।

स्थिरवासी संवेगी साधुओं की शिथिलता के लिये उन साधुओं का यदि विरोध किया जाता तो उस से लाभ होना संभव नहीं था । कारण यह था कि सारे भारत में मात्र गुजरात–सौराष्ट्र में ही इस समय संवेगी साधुओं की संख्या मात्र २५–३० की थी । वे कई पीढियों से इधर ही विचरते थे । इसलिये उनका इन क्षेत्रों में प्रभाव होना स्वाभाविक था । यह पंजाबी त्रिपुटी इन क्षेत्रों के लिये एकदम अपरिचित थी । इसलिये इन्होंने यही उचित समझा कि नये साधुओं को दीक्षित करके उन को चारित्रवान, त्यागी, वैरागी तथा विद्वान बनाकर सर्वत्र विचरण कराने से, बिना विरोध से शीघ्र लाभ होना संभव है । यदि इन का विरोध किया जावेगा तो सारी शक्ति इसमें उलझ जाने से लाभ के बदले हानि अधिक संभव है । इसी निर्णय के अनुसार त्यागी, वैरागी, संयमी, चारित्रवान साधुओं की संख्या को बढावा दिया । जिनको दीक्षा दी जाती थी उन सब को गुरु के शिष्यों के रूप में अथवा गुरुभाइयों के शिष्यों के रूप में दी जाती थी । मुनि मूलचन्दजी और वृद्धिचन्दजी ने अभी तक अपना शिष्य कोई न बनाया ।

आगे चलकर गुरुजी की आज्ञा से और उनके अधिक जोर देने पर इन दोनों ने भी अल्प संख्या में अपने–अपने शिष्य बनाये ।

पूज्य बूटेरायजी महाराज के शिष्यों की संख्या ३५ कही जाती है इस विषय में आगे चलकर हम प्रकाश डालेंगे।

वर्त्तमानकाल में बम्बई, अहमदाबाद, पालीताना आदि क्षेत्रों में संवेगी साधु-साध्वीयाँ बहुत बडी संख्या में रहते हैं जिस से उपकार अत्यन्त अल्प हो रहा है। साधुओं के प्रति लोगों की रुचि घटती है तथा गृहस्थों का प्रतिबन्धन बढता जा रहा है। ऐसा उस समय नहीं था। यह बात वर्तमान में साधु-समुदाय की आगेवानी करनेवाले मुनिराजों को अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये। आजकल विहार में सुगमता होने पर भी क्यों प्रमाद किया जाता है? यह बात समझ में नहीं आती। विहार करने की अत्यन्त कठिनाइयों के समय भी जिन्होंने उपकार-बुद्धि से परिषहों और उपसर्गों को सहन कर असह्य कष्टों को उठाकर भी कंटकाकीर्ण क्षेत्रों में विहार किया है उनका उदाहरण लेकर आप लोग स्वयं भी जिनशासन की प्रभावना के साथ आत्मकल्याण की ओर लक्ष्य दें। ऐसी आधुनिक-वर्तमान मुनियों से हमारी विनम्र विनती है। कहा भी है कि -

बहता पानी निर्मला, खडा गंदीला होय।
साधु तो चलता भला, दाग न लागे कोय॥

उत्तम पद की प्राप्ति के लिये कष्ट सहन करने की आवश्यकता है। दूध भी आग पर चढे बिना मावा (खोया) नहीं बनता। दही भी मंथन से उत्पन्न कष्टों को सहन करता है तभी उसमें से मक्खन निकलता है और मक्खन भी आग पर तपने से व्यथा पाकर घी बनता है। इसलिये कष्टों को सहन किये बिना महत्त्वता की प्राप्ति कभी नहीं होती। पूर्वकाल में भी अनेक महात्माओं ने शरीर, इन्द्रियों और मन का दमन करके अनेक उपसर्गों और कठोर परिषहों

को बर्दाश्त करके मोक्षसुख को प्राप्त किया है । अतः इनका अनुकरण आधुनिक साधु-समुदाय को अवश्य करना चाहिये । इस पुस्तक में दिये गये चरित्रों के अनुकरण करने से भी स्व-हित के साथ-साथ पर-हित भी बहुत हो सकेगा । सर्वत्र सर्वदा ज्ञान-चारित्र-सम्पन्न संवेगी मुनिराजों के विहार न होने के परिणाम स्वरूप जिनमंदिरों आदि धर्मस्थानों में अनेक उपासकों की पुनः कमी होने लगी है अतः समय रहते चेतना परमावश्यक है ।

पूज्य बूटेरायजी महाराज का शिष्य-समुदाय 'पंजाबी-संघाडा' कहलाता था । इसमें त्यागी, वैरागी, संयमी, तपस्वी, योगी, आध्यात्मी साधुओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । इस पंजाबी त्रिपुटी ने इन साधुओं को बंगाल, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि क्षेत्रों में सर्वत्र जिनशासन की प्रभावना के लिए भेजा । वे लुंकापंथी, स्थानकमार्गी और यति-श्रीपूज्यों के बल के लिये खूब जाग्रत थे । सत्यधर्म-उपदेशक मुनियों ने उनके प्रभाव को तोडा और बहुतों को जिनप्रतिमा द्वारा तीर्थंकरदेवों की भक्ति के प्रति श्रद्धालु बनाया । नये मंदिरों का निर्माण करवाकर जिनेश्वर प्रभु की भक्ति के लिये भव्य जीवों को प्रोत्साहित किया ।

वि० सं० १९२३ (गुजराती सं० १९२२) (ई० स० १८६६)को मुनिश्री मूलचन्दजी और मुनिश्री वृद्धिचन्दजी अहमदाबाद पधारे । इन दिनों पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी पंजाब में विचर रहे थे । तब दादा मणिविजयजी तथा मुनि मूलचन्दजी ने पंन्यास दयाविमलजी के पास श्रीभगवतीसूत्र का योगवहन किया । उस समय सकल श्रीसंघ के समक्ष पंन्यास दयाविमलजी ने मुनि मणिविजयजी और मुनि मूलचन्दजी को मिति जेठ सुदि १३ को गणिपद का वासक्षेप

दिया। अब मूलचन्दजी महाराज मुनि मुक्तिविजयजी गणि हो गये। मुनि वृद्धिचन्दजी महाराज अस्वस्थ होने से अशक्त होने के कारण तपस्या करने में असमर्थ थे और गुरुदेवश्री बूटेरायजी इस समय पंजाब में होने से दोनों को ऐसा अवसर अभी तक प्राप्त न हुआ। पर मुनिश्री मुक्तिविजयजी को गणिपद मिलने पर गुरुभाई वृद्धिचन्दजी को अपार हर्ष हुआ और गुरुजी ने सुयोग्य शिष्य को पदवी-प्रदान होने पर गौरव का अनुभव किया।

पूज्य बूटेरायजी पंजाब से विहार करके वि० सं० १९२८ (ई० स० १८७१) मे अहमदाबाद पुनः पधारे और गणि मूलचन्दजी तथा मुनि वृद्धिचन्दजी भी अपने मुनि-परिवार के साथ आपसे आ मिले। उजमबाई की धर्मशाला में पूज्य बूटेरायजी गणि मूलचन्दजी आदि अपने मुनि-परिवार के साथ विक्रम सं० १९२८ (ई० स० १८७१) का चौमासा करके शहर के बाहर हठीभाई की वाडी में चले गये। मूलचन्दजी महाराज उजमबाई की धर्मशाला में ही विराजमान रहे। मुनि वृद्धिचन्दजी ने यह चौमासा लींमडी में किया।

गुरुदेव कभी-कभी स्वयं गोचरी के लिये शहर चले जाया करते थे। कभी-कभी मूलचन्दजी अथवा कोई दूसरा साधु शहर से गोचरी लाकर आपको दे जाया करता था। आपने सोचा कि "कुछ दिन शहर में जाकर रह आऊं, फिर वहाँ से वापिस चला जाऊंगा।" दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्य निकलने पर मूलचन्दजी अठारह-उन्नीस साधुओं को साथ लेकर हठीभाई की वाडी में आपके पास आ पहुंचे। जब आप शहर को जाने लगे तब मूलचन्दजी ने कहा कि "गुरुदेव ! आप शहर में क्यों जा रहे हैं ? हम लोग तो आप के पास आये हैं। यहीं रहें और यहीं आहार करियेगा।"

पूज्य गुरुदेव इसी वर्ष पंजाब से अहमदाबाद पधारे और इसी वर्ष डेला के उपाश्रय में मुनि रतनविजय को पंन्यास पदवी दी गई थी । उसमें पंजाबी साधु कोई भी नहीं गया था । मुनि रतनविजय को मुनि सौभाग्यविजयजी ने एक यति से संवेगी दीक्षा दी थी और अपना शिष्य बनाया था । इस समय पं० सौभाग्यविजयजी कालधर्म प्राप्त कर चुके हुए थे । मुनि रतनविजय गणि मणिविजयजी के साथ ही रहते थे ।

गुरुदेव ने कहा – ''मूला ! मैंने सुना है कि आज यहाँ एक बाई को दीक्षा देने के लिये डेला के उपाश्रय से मुनि रतनविजय आदि साधु यहाँ आवेंगे । उससमय यहाँ कोई ऐसी घटना न हो जावे कि जिससे चर्चा छिड जावे । ऐसा होनेसे वाद-विवाद में व्यर्थ समय जावेगा । राग-द्वेष की वृद्धि होगी । ज्ञान-ध्यान में बाधा पडेगी । इसलिये मैं शहर में जाकर कुछ दिनों के बाद यहाँ वापिस चला आऊंगा । मुझे शहर में जाने से मत रोको, क्योंकि मेरा कई बातों में उनकी श्रद्धा से मेल नहीं खाता । मूला ! तुम जानते हो कि साधु की आचरणा में मतभेद होने के कारण ही संवेगी दीक्षा लेकर भी हम उन सब साधुओं से अलग रहते हैं । इसलिये अलग रहने से कोई खैंचातान तो नहीं है ।''

मूलचन्दजी ने कहा – ''गुरुदेव ! आपको वहाँ फिर कौन बुलाने आवेगा ? दीक्षा देकर शहर में चले जावेंगे । कोई खैंचातान नहीं होगी । आप क्यों चिंता करते हैं ?'' गणि मूलचन्दजी के कहने पर आप यहीं रह गये ।

गणि मणिविजयजी के साथ पं. रतनविजयजी बाई को दीक्षा देने के लिये यहाँ आये । दीक्षा के समय आप लोगों को भी बुलाने

के लिये आये । तब मूलचन्दजी ने कहा – ''गुरुदेव ! आप भी हम लोगों के साथ चलिये । वहाँ चर्चा का क्या काम ? दीक्षा होने के बाद वहाँ से चले आयेंगे ।'' तब आप भी अपने मुनि-परिवार के साथ दीक्षा-मंडप में आ पधारे ।

जिनाज्ञा-विरुद्ध प्रथा का विरोध

जो बाई दीक्षा लेनेवाली थी, उसने दीक्षा-मंडप में आकर साधुओं के सामने रुपये चढाकर उनकी पूजा शुरू की । आपने तो संवेगी साधुओं में ऐसी प्रथा कभी देखी नहीं थी । आप लोगों को भी संवेगी दीक्षा लिये हुए सोलह वर्ष बीत चुके थे । तब से मूलचन्दजी और वृद्धिचन्दजी तो गुजरात में ही रहे थे । आप भी संवेगी दीक्षा लेने के बाद छह वर्ष गुजरात और सौराष्ट्र में विचर चुके थे । पर किसी साधु की न तो रुपये चढाकर पूजा करने-कराने की प्रथा थी और न ही रुपयों आदि से अंगपूजा कराने की प्रथा थी । यह तो यतियों-श्रीपूज्यों की प्रथा थी । क्योंकि वे साधुवेष में परिग्रहधारी थे । उन्होंने इसे अपनी आय का साधन बना रखा था । रतनविजयजी ने भी यतियों में से आकर संवेगी साधु की दीक्षा ग्रहण की थी । इसलिये उसने यह नई प्रथा चालू की थी ।

बाई ने पहले पं० रतनविजयजी की रुपयों से पूजा की, पश्चात् गणि मणिविजयजी की रुपयों से पूजा की । गणि मणिविजयजी सरल-भद्रिक प्रकृति के भोले थे । उन्होंने इस प्रथा का विरोध न किया । फिर पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी के सामने रुपये चढाकर पूजा करने के लिये दीक्षा लेनेवाली बाई आ उपस्थित हुई । बाई जब रुपये निकाल कर आपकी पूजा करने लगी, तब तुरंत ही आपके शिष्य मुनि नित्यविजयजी बोले कि – ''बाई ! रुक जाओ ! हम त्यागी

साधुओं के सामने रुपये चढाने की कोई जरूरत नहीं है । हम तो कंचन-कामिनी के त्यागी हैं ! हमें रुपयों की आवश्यकता नहीं है । जैन मुनि परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते है । इसलिये यह प्रथा श्रीवीतराग जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा और सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध है ।

नित्य(नीति)विजयजीने पुनः भार देकर कहा कि ''यह द्रव्य से पूजा तो चैत्यवासियों के अनुकरण रूप है । श्रीपूज्यों-यतियों की चलाई हुई प्रवृत्ति है । इसमें मुनिपद का उपहास है । यतियों ने धन कमाने की, धन जुटाने की रीति चलाई हुई है । संवेगी साधु के साथ द्रव्यपूजा का कोई मेल नहीं खाता है । शास्त्रों में जिनपूजा कही है, गुरुपूजा का विधान नहीं है । गुरुभक्ति का विधान तो है । किसी विशेष प्रसंग की ओट लेकर तथा गुरुद्रव्य बढाने के बहाने से गुरुपूजा कराना; यह तो स्पष्ट मानलालसा है । यदि कोई राजा-महाराजा युगप्रधान की पूजा करे ऐसा उदाहरण देकर, कल का गाँगो गणेशविजय बनकर अपने आप पाट पर चढकर अपनी पूजा कराने बैठे, यह तो एक नाटक ही है । साधु द्रव्यपूजा करावे यह उसकी सरासर भूल है, त्याग और वैराग्य का उपहास है, विडम्बना है । इस आगम-विरुद्ध प्रथा का अन्त लाना ही चाहिये ।''

इत्यादि कहते हुए आप सब अपने गुरुदेव बूटेरायजी के साथ वहाँ से उठकर चले आये और दलपतभाई के वाडे में आकर रहे । वे लोग भी बाई को दीक्षा देकर शहर में डेले के उपाश्रय में चले गये ।

गुरुदेव का विचार सिद्धाचलजी की यात्रा करने का हुआ, किन्तु मूलचन्दजी आदि आपके शिष्य-परिवार ने और नगरसेठ प्रेमाभाई आदि श्रावकों ने कहा- ''गुरुमहाराज ! आप जल्दी न करें ।

अभी सख्त सर्दी का मौसम है। जरा खुली ऋतु आने दीजिये, फिर सिद्धाचलजी की यात्रा करने को चले जाना।"

प्रत्याघात और मुँहपत्ती-चर्चा

शास्त्राज्ञा है कि जैन साधु मुख के सामने मुँहपत्ती की आड रखकर बोले। जब कागज नहीं था तब आगम आदि शास्त्रों को ताडपत्रों पर लिखा जाने लगा। कोई कोई ताडपत्र तो इतना लम्बा होता था कि यदि उसे वाँचना होता तो पत्र को दोनों हाथों से पकडकर वाँचना संभव था। ऐसे लम्बे-लम्बे ताडपत्रों को वाँचते हुए दोनों हाथ रुक जाते थे। थूक की आशातना एव सम्पातिम जीव के मुख में पडने की संभावना से बचने के लिये मात्र व्याख्यान-वांचन के समय में ही मुख पर मुँहपत्ती बाँधने की प्रथा कुछ समय से शुरू हुई थी, ऐसी स्थिति न होने पर तो मुख के सामने मुखपत्ती रखकर बोलने की प्रथा थी। अब ऐसा कारण न होने से बूटेरायजी तथा शिष्य-परिवार हाथ में मुँहपत्ती मुख के सामने रखकर व्याख्यान वाँचते थे। मुनि रतनविजय आदि जब व्याख्यान करते थे, तक कुछ समय से चालु प्रथानुसार मुखपत्ती के दोनों किनारे कानों में डालकर नाक-मुँह को ढाँक कर शास्त्र वाँचते थे। अन्य समय में हाथ में मुहपत्ती को मुख के आडे रख कर बोलते थे।

बाई की दीक्षा के समय रतनविजयजी की द्रव्य से पूजा कराने के विरोध का प्रत्याघात यह हुआ कि उस विरोध का बदला लेने के लिये डेला के उपाश्रय, लुहार की पोल के उपाश्रय तथा विमलगच्छ के उपाश्रय के सब साधुओं ने मिलकर एक योजना बनाई। उन्होंने सोचा कि सब संवेगी साधु मुँहपत्ती के दोनों किनारों को कानों के छेदों में डालकर मुख और नाक को ढाँककर व्याख्यान वाँचते है

और बूटेरायजी आदि पंजाबी साधु ऐसा नहीं करते; इसलिये उन्हें चर्चा से परास्त करके नीचा दिखाना चाहिये। जिससे इनका बढता हुआ प्रभाव समाप्त हो जायगा।

उपर्युक्त तीनों उपाश्रयों के साधुओं ने एकमत होकर भोजक को भेजकर अहमदाबाद में विराजमान सब साधु-साध्वीयों तथा श्रावक-श्राविकाओं को नोतरा (बुलावा) भेजा कि कल रूपविजयजी के डेले में सब लोग इकट्ठे हो जावें। वहाँ बूटेरायजी से मुखपत्ती की चर्चा की जावेगी। चर्चा का विषय होगा कि "अपने दोनों कानों में छेद कराकर उन छेदों में मुँहपत्ती के एक-एक सिरे को डालकर मुँहपत्ती से मुँह और नाक को ढाँककर व्याख्यान करना चाहिये अथवा हाथ में लेकर मुख के आगे रखकर करना चाहिये ?" यह चर्चा डेले में होगी। भोजक को कहा गया कि न तो बूटेरायजी के पास जाना और न ही नगरसेठ प्रेमाभाई हेमाभाई के पास जाना और न ही दलपतभाई को मालूम होने पावे। मूलचन्दजी को अवश्य कह आना। गणि रतनविजय की सूचनानुसार भोजक सब जगह कह आया परन्तु पूज्य बूटेरायजी, सेठ दलपतभाई तथा नगरशेठ प्रेमाभाई हेमाभाई को इसका कुछ भी पता न लगा। बाकी सारे अहमदाबाद को सूचना मिल गई।

जब लोगों के मुख से सेठ दलपतभाई को पता लगा तब उसने नगरसेठ प्रेमाभाई के बेटे मयाभाई को बुलाया। दोनों सेठ प्रेमाभाई के पास गये और सेठ प्रेमाभाई से सब बात कही।

नगरसेठ प्रेमाभाई ने कहा कि "डेले में सब को इकट्ठा होने दो। वहाँ न तो हम जावेंगे और न ही मूलचन्दजी जावेंगे। मूलचन्दजी

के पास मेरी तरफ से आदमी को भेजकर कहला दिया जावे कि वह भी न जावें ।"

दलपतभाई तथा मयाभाई दोनों बोले– "यह बात नहीं होगी । यदि मूलचन्दजी नहीं जावेंगे तो वे लोग कहेंगे कि 'मूलचन्द झूठा है इसलिये नहीं आया । यदि सच्चा होता तो सामने आकर चर्चा करता ।' इसलिये इस विषय पर कुछ सूझ–बूझ से कदम उठाना चाहिये ।"

नगरसेठ प्रेमाभाई ने कहा – "भोजक को बुलाया जाय ।" तब भोजक को बुलाकर नगरसेठ ने कहा कि "सारे अहमदाबाद में सब साधु–साध्वीयों तथा श्रावक–श्राविकाओं को नोतरा (बुलावा) दे आओ कि कल प्रातःकाल सेठ की धर्मशाला में सब इकट्ठे हो जावें, वहाँ मुँहपत्ती की चर्चा होगी । रतनविजयजी को भी कह आना ।" सेठ ने भोजक के साथ अपना आदमी भेजा । दोनों जाकर सब जगह कह आये । जब रतनविजय को यह समाचार मिला तो उनके हाथों के तोते उड गये । वह गहरी सोच विचार में पड गया कि "अब क्या किया जावे ? मैंने तो सोचा था कि मूलचन्द से पूछेंगे कि 'तुम व्याख्यान के समय मुखपत्ती को कानों में नहीं डालते, यह क्या कारण हैं ?' यदि वह यह कहेगा कि 'हम नहीं डालते, इसकी चर्चा की क्या आवश्यकता है ? जिसकी जैसी श्रद्धा हो वैसा करे ।' तब उनसे हम पूछेंगे कि गच्छ में सब साधु कानों में मुँहपत्ती डाल कर व्याख्यान करते हैं तो यह बात अच्छी है या बुरी ?' यदि वह कहेगा कि 'अच्छी है ।' तब उससे पूछेंगे – यदि अच्छी बात है तो तुमको भी करनी चाहिये । तुम भी तो तपागच्छ के हो ।' यदि मान लेगा तो अच्छी बात है । तब इस चर्चा के समाप्त होने पर फिर कोई दूसरी

चर्चा चालू कर देंगे । यदि ये लोग मुँहपत्ती की बात को नहीं मानेंगे तो उन्हें निह्नव प्रसिद्ध कर देंगे और कहेंगे कि अहमदाबाद के सकल श्रीसंघ ने इन्हें निह्नव स्थापित कर दिया है । यदि पूछेंगे कि 'इनको निन्हव स्थापित क्यों किया है ?' तो कहेंगे कि 'ये पूर्वाचार्यों की धारणा को नहीं मानते, इसलिये इनको गच्छबाहर कर दिया है ।'

अब क्या करें ! योजना कैसे बन पायेगी ? इनके पक्ष में तो नगरसेठ हो गया है । अब चलो नगरसेठ के पास, वहाँ जाकर जो बात बने सो ठीक है ।"

रतनविजय आदि साधु लोग नगरसेठ के वहाँ जा पहुंचे और आसन बिछाकर बैठ गये । उस समय सेठ के पास और भी कई भाई बैठे थे । उनमें से एक भाई का नाम धौलसा था । उससे रतनविजय ने पूछा – "भाई धौलसा ! इस समय तुम्हारी आयु करीब पैंतालीस वर्ष की होगी ?" धौलसा ने कहा– 'मेरी आयु पचास वर्ष की है ।' प्रेमाभाई विचक्षण और महाचतुर थे । सरकार में आपको न्याय–इन्साफ करने का अधिकार था । आपका किया हुआ इन्साफ सरकार को भी मान्य होता था । रतनविजय की बात को सेठ ताड गया । नगरसेठ ने इन साधुओं से कहा कि "आप धौलसा से क्या पूछना चाहते हैं ? मेरी आयु साठ वर्ष की है, जो बात पूछनी हो मुझसे पूछिये ।" तब वे बोले – "सेठ साहब ! आपने अपनी सारी उम्र में किसी भी साधु को कानों में मुँहपत्ती डाले बिना व्याख्यान करते देखा है ?" तब सेठ ने कहा – "मैंने तो कोई नहीं देखा । मेरे पिताजी का देहांत सत्तर वर्ष की आयु में हुआ था, वे भी कहते थे कि कोई नहीं देखा । जब से मुनिराज श्रीबूटेरायजी आये हैं, तब से देखा है । मूलचन्दजी और वृद्धिचन्दजी को भी

देखा है कि वे कानों में मुंहपत्ती नहीं डालते।" तब ये साधु बोले – "सेठजी ! हमने आपसे पूछे बिना नोतरा (बुलावा) दिया है, यह हम से भूल हो गई है।[१] यदि यह बात सच है कि पूर्व से लेकर आजतक बडे-बडे आचार्य प्रमुख हो गये हैं जो कानों में मुँहपत्ती डालकर व्याख्यान करते आ रहे हैं, तो क्या इस बात को उठाना उचित नहीं है ?" सेठने कहा – "महाराज ! आचार्यों ने कई प्रकार की जुदा-जुदा सामाचारियाँ चला रखी हैं। न तो आज तक उनको किसीने एक प्रकार से किया और न ही उन्हें हटाया है और हटाया जाना संभव भी नहीं है।" साधु बोले – "सेठजी ! यदि हमारे तपागच्छ का कोई संवेगी नयी प्रथा चलावे तो उसे शिक्षा देनी ही चाहिये। इसलिये संघ इकट्ठा होकर इस बात का निर्णय करे।" सेठ ने कहा – "अच्छी बात है, पर यदि चर्चा में बहुत लोग इकट्ठे होंगे तो किसी की मति कैसी है किसी की कैसी है। भांत-भांत की बातें करेंगे। कोई कुछ कहेगा और कोई कुछ कहेगा। ऐसी परिस्थिति में झगडा हो जाना भी संभव है। इसलिये यह बात अच्छी नहीं है। जो लोग इकट्ठे होंगे उनमें कोई मूलचन्दजी का अनुरागी होगा तो कोई वृद्धिचन्दजी का अनुरागी होगा। मूलचन्दजी तथा वृद्धिचन्दजी भी आगम सूत्रों, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका (पंचांगी) के जाननेवाले विद्वान हैं। मूलचन्दजी के साथ मुनिराज बूटेरायजी भी आवेंगे। यदि बूटेरायजी आयेंगे तो खरतरगच्छ के साधु नेमसागरजी के शिष्य मुनि शांतिसागर भी आवेंगे। उनका यहाँ बहुत प्रभाव है क्योंकि वह भी बहुत विद्वान है, सूत्र टीका ग्रंथादि खूब पढे हुए हैं और वह भी मुनिराज बूटेरायजी के साथ सहमत होकर कानों में मुँहपत्ती नहीं

१. अहमदाबाद का बंधारण है कि संघ की मीटिंग नगरसेठ की आज्ञा से ही बुलाई जावे।

डालते । श्रावक लोग भी इनके साथ बहुत आवेंगे । इसलिये ऐसी चर्चाओं में लाभ के बदले हानि होने की अधिक संभावना है क्योंकि ऐसी चर्चाओं में प्रायः झगडा हो जाया करता है । अतः निर्णय कुछ भी न हो पायेगा और संघ में फूट पड जावेगी । कोई मानेगा भी नहीं । इसलिये तुम लोग ऐसा करो कि "सूत्र-टीका आदि ग्रंथों में मुखपत्ती बाँधने के जो पाठ हैं, वे सब लिखकर मेरे पास भेज दो । मैं उसे मूलचन्दजी के पास ले जाऊंगा और उनके पास से उत्तर मँगवा कर तुम्हें भेज दूंगा । दोनों तरफ से प्रश्नोत्तर मेरे पास भेजते जावें और मैं उनको आप दोनों के पास भेजता रहूंगा । इस प्रकार तुम दोनों का पत्राचार चलता रहेगा । जब चर्चा का अन्त आ जावेगा, तब हम दो-चार सयाने-समझदार भाई और दोनों पक्ष के साधु इकट्ठे बैठ जावेंगे, तब निर्णय कर लेवेंगे, जिसे झूठा समझेंगे उसे संघ शिक्षा देगा ।"

तब मुनि रतनविजयजी आदि साधु बोले कि "पहले मूलचन्दजी प्रश्न लिखकर देवें ।" नगरसेठ प्रेमाभाई ने कहा कि "चर्चा तो तुम करना चाहते हो, मूलचन्दजी ने तो कोई चर्चा के लिये कहा नहीं । इसलिये वादी तो तुम लोग हो । वादी प्रश्न करेगा तो प्रतिवादी उसका समाधान करने के लिये उत्तर देगा । अतः तुम लोगोंको ही प्रश्न लिखकर मुझे देने चाहिये । तब मैं उनसे उत्तर मँगवा कर तुम लोगों के पास भेज दूंगा, तब चर्चा चालू हो जावेगी । फिर भी यदि तुम लोगों की यही इच्छा है कि पहले श्रीमूलचन्दजी प्रश्न लिखकर दें तो इसके लिये मैं उनसे पूछुंगा । यदि गणि मूलचन्दजी लिखकर भेज देंगे तो मैं तुम्हारे पास भेज दूंगा । तुम उसका उत्तर लिख कर दोनों चिट्ठियाँ मेरे पास भेज देना ।"

रतनविजय ने कहा – "ठीक है। हम प्रश्न का उत्तर आपको लिख भेजेंगे।" रतनविजय आदि सब साधु अपने निवासस्थानों पर चले गये। नगरसेठ प्रेमाभाई गणिश्री मूलचन्दजी के पास गये और उनसे कहा कि "रतनविजय आदि साधु ऐसी सलाह कर गये हैं, इसलिये यदि आपकी इच्छा हो तो चर्चा के प्रश्न लिख दीजिये। मैं उनके पास पहुंचा दूंगा।" गणिजी ने कहा – "अच्छी बात है। मैं प्रश्न लिखकर आपके पास भेज दूंगा।" गणि मूलचन्दजी ने लिखा –

"आप लोग व्याख्यान करते समय मुखपत्ती के दोनों कोने कानों में डालकर मुख पर बाँधते हो, वह अपनी खुशी से बाँधते हो अथवा किसी सूत्रपाठ के आधार से ? या परम्परा से किसी सामाचारी में लिखा है ? और किसी आचार्य महाराज ने बाँधने की आज्ञा दी है ? मुख पर मुँहपत्ती बाँध कर कथा करते हो सो किस आधार से ? इस प्रश्न का उत्तर लिख भेजना।"

यह प्रश्न लिखकर गणिजी ने नगरसेठ प्रेमाभाई के पास भेज दिया और नगरसेठ ने मुनि रतनविजयजी के पास भेज दिया। उन्होंने उत्तर दिया–

"मुँहपत्ती शास्त्रों में बाँधनी लिखी है, परम्परा से भी बांधनी कही है, बुजुर्ग बाँधते आये हैं, इसलिये हम भी बाँध कर व्याख्यान करते हैं।"

रतनविजय ने ऐसा लिखकर नगरसेठ प्रेमाभाई के पास भेज दिया। सेठ ने गणिजी के पास भेज दिया। उत्तर में गणिजी ने लिखा –

"यह तो तुमने समुचे गोलमोल उत्तर लिख भेजा है। इसमें किसी भी सूत्र–पाठादि का उल्लेख नहीं है। अतः हमारे प्रश्न का

उत्तर व्योरेवार लिखकर दो कि कौनसे शास्त्र में और कौनसी सामाचारी में मुँहपत्ती मुख पर बाँधनी लिखी है ? मुख बाँधने की परम्परा कहाँ लिखी है ? कौनसे आचार्य ने कौनसे संवत् में कौनसे नगर में मुखपत्ती बाँधनी आरंभ की ? स्पष्ट लिख कर भेजो।''

उपर्युक्त प्रश्न लिख कर गणि मूलचन्दजी ने नगरसेठ के पास भेज दिया और सेठ ने रतनविजय के पास भेज दिया। पर इस का उत्तर उन लोगों ने कुछ न दिया। पन्द्रह-बीस दिन तक उत्तर की प्रतीक्षा कर गणिजी ने फिर पत्र लिखकर सेठजी को भेजा। पर उसका भी कोई उत्तर न मिला। अतः यह चर्चा जन्मते ही मर गई। यह प्रसंग वि० सं० १९२९ (गुजराती १९२८, ई० स० १८७२) का है।

नगरसेठ हेमाभाई की बहन उजमबाई ने वि० सं० १९२९ (ई० स० १८७२) में अपने रहने का घर श्रीसंघ को धर्मध्यान करने के लिये ताम्रपत्र लिखकर भेट किया और पूज्य बूटेरायजी, गणि मूलचन्दजी आदि मुनिराजों का यहाँ प्रवेश कराया। यह स्थान आज भी रतनपोल-अहमदाबाद में उजमबाई की धर्मशाला के नाम से प्रख्यात है।

नगरसेठ प्रेमाभाई हमेशा दोपहर को दो बजे सेठ के वंडे से पालकी मैं बैठ कर उजमबाई की धर्मशाला में गुरुमहाराज के पास सामायिक करने आया करते थे और प्रतिदिन सामायिक के लिये घर से जाते हुए पालकी में चवन्नियों, आनों, पैसों की दो थैलियां भरकर अपने साथ लाते तथा दोनों तरफ (दांयें-बायें) गरीबों को दान देते थे। वि० सं० १९२९ (ई० स० १८७२) का चौमासा पूज्य बूटेरायजी और मूलचन्दजी ने अहमदाबाद में किया।

गुरुदेव बूटेरायजी के एक शिष्य आनन्दविजयजी थे । उन्होंने प्रायः राधनपुर में अधिक समय बीताया । वे कहाँ के थे और उनकी दीक्षा कहाँ और कब हुई, इस का कुछ पता नहीं लगा ।

गुरुदेव बूटेरायजी स्व-रचित मुखपत्ती-चर्चा नामक पुस्तक में अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि "रतनविजय आदि के साथ मुँहपत्ती-चर्चा से सौराष्ट्र, गुजरात, कच्छ, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पूर्वदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब आदि सब देशों में अधिकतर लोगों को खबर पड गई कि सब गच्छों के जो यति अथवा संवेगी साधु कानों में मुँहपत्ती के कोने डाल कर व्याख्यान करते हैं, वह शास्त्रसम्मत्त नहीं हैं ।

(१) कोई कानों में मोर के पंखों की डंडी डालकर छेद कराता है । कोई कहते हैं कि जिनके कानों में छेद नहीं हैं वे कानों में छेद करवाकर उन में मुखपत्ती के दोनों सिरे डालकर मुँहपत्ती बाँधकर व्याख्यान करें ।

(२) स्थानकमार्गी साधु मुँहपत्ती में डोरा डालकर चौबीस घंटे मुंह पर बाँधे रहते हैं और व्याख्यान भी करते हैं । इस मत के लवजी नामक साधुने वि० सं० १७०९ में सर्वप्रथम प्रतिदिन चौबीस घंटे अपने मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने की प्रथा चालू की ।

इत्यादि अनेक अपनी-अपनी मतिकल्पना से प्ररूपणा कर रहे हैं । यह कैसे आश्चर्य की बात हैं ?"

वि० सं० १९३० (ई० स० १८७३) को गुरुदेव ने अहमदाबाद में खरायतीलाल नामक स्थानकमार्गी पंजाबी साधु को संवेगी दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया । इनका नाम खांतिविजय

रखा। यह मालेरकोटला (पंजाब) का अग्रवाल बनिया था। (इसने स्थानकमार्गी दीक्षा वि० सं० १९११ में पंजाब में ली थी)।

पूज्य गुरुदेव अपने शिष्य गणि मूलचन्द तथा अन्य शिष्य-परिवार के साथ श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा करने गये। जब से गुरुदेव पंजाब से होकर पुनः गुजरात पधारे थे तभी से आपकी इच्छा शीघ्रातिशीघ्र श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा करने की थी। परन्तु अहमदाबाद में मुँहपत्ती की चर्चा छिड जाने के कारण यात्रार्थ न पधार सके थे। श्रीसिद्धगिरि की यात्रा कर गुरुदेवने वि० सं० १९३० (ई० स० १८७३) का चौमासा पालीताना में ही किया। चौमासे उठे ग्रामानुग्राम विचरते हुए आप भावनगर में पधारे और वि० सं० १९३१ (ई० स० १८७४) का चौमासा भावनगर में किया।

श्रीबूटेरायजी और शांतिसागरजी

हम पहले लिख आये हैं कि वि० सं० १९२९ में रतनविजय आदि के साथ मुँहपत्ती-चर्चा के समय नगरसेठ ने कहा था - "खरतरगच्छीय श्रीनेमसागर के शिष्य श्रीशांतिसागरजी के साथ पूज्य गुरुदेव का गाढ स्नेह है।" उन शांतिसागरजी ने जिनवल्लभसूरिकृत संघपट्टक पर जिनपतिसूरि द्वारा रचित टीका का गुजराती भाषांतर लिखते हुए उसकी जो प्रस्तावना लिखी है उसमें पूज्य गुरुदेवश्री बूटेरायजी के विषय में चैत्यवासियों तथा स्थिरवासी साधुओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि —

"श्रीवीरप्रभु के साधु 'निर्ग्रंथ' नाम से पहचाने जाते थे। निर्ग्रंथ शब्द का अर्थ है - 'ग्रंथरहित'। ग्रन्थ शब्द का अर्थ है - 'गाँठ'। अर्थात् राग-द्वेषरूपी अभ्यंतर तथा धन-दौलत, वसती,

मकान, भूमि-परिवार आदि सब प्रकार के बाह्य परिग्रह रहित श्रमणों को निर्ग्रंथ कहते हैं। इन निर्ग्रंथों के आचार का प्रतिपादन करने के लिये जिन आगमसूत्रों की रचना हुई, ये सूत्र 'निर्ग्रंथ प्रवचन' के नाम से पहचाने जाते हैं। इन आगमों में साधु के लिये जो नियम बतलाये गये हैं उन्हीं के अनुसार जैन साधु आचरण करते थे। वे लोग गांव-नगर के बाहर बगीचों में वसती माँगकर उतरते थे। आवश्यकता पडने पर नगर में रहते तो गृहस्थ का मकान माँग कर उसमें रहते थे। उनके निमित्त बने हुए आहार-पानी-वसती को आधाकर्मी दोषवाला होने से वे कदापि ग्रहण नहीं करते थे। वे धर्मोपकरणों के सिवाय दूसरी वस्तुओं का संग्रह भी नहीं करते थे। क्लेश और झगडों से दूर रह कर वे समाधि में लीन रहते थे। आडम्बर, छल, प्रपंच, दंभ, कदाग्रह आदि से कोसों दूर रहते हुए लोगों को सच्चा आत्म-कल्याणकारी मार्गदर्शन कराते थे। ऐसे निर्ग्रंथ सदा स्व-पर कल्याण करने में तत्पर रहते थे।

इस प्रकार प्रभु महावीर से एक हजार वर्ष तक ऐसी शुद्ध परम्परा चालू रही। परन्तु भगवान के ८५० वर्ष के बाद कुछ यतियों ने उग्रविहार का त्याग कर चैत्यवास की शुरूआत की, और मन्दिरों की आय के साधन के माध्यम से अपना निर्वाह करने लगे। मुख्य भाग तो वसतीवासी ही रहा। क्योंकि उस समय देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण जैसे गीतार्थ तथा शुद्ध चारित्र का पालन करनेवाले चारित्रचूडामणि मुनियों ने वीरनिर्वाण से ९८० (दूसरे मत से ९९३) वर्ष बाद आगमों को लिपिबद्ध किया। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास वीर संवत् १००० में हुआ। जिसका वर्णन नवांगी-टीकाकार अभयदेवसूरि (जो वि० सं० ११२० में

विद्यमान थे) ने आगम–अट्ठोत्तरी नामक ग्रन्थ में नीचे की गाथा में किया है।[१]

''देवड्ढि–खमासमण जा, परंपरं भावओ वियाणेमि।

सिढिलायारे ट्ठविया–दव्वेण परंपरा बहुहा॥''

भावार्थ – देवर्द्धि(गणि) क्षमाश्रमण तक भाव परंपरा मैं जानता हूँ। बाद में तो शिथिलाचारियों ने अनेक प्रकार से द्रव्य परम्परा कायम की है।

अतः वीर प्रभु के ८५० वर्ष बाद चैत्यवास का प्रादुर्भाव होकर धीरे–धीरे शिथिलता बढने लगी। तथा वे लोग ऐसे ग्रन्थों की रचना करने लगे कि चैत्यों में साधुओं के निमित्त बनाये हुए मकानों में रहना उचित है, पुस्तकों आदि के लिये द्रव्यसंग्रह करना उचित है। इस प्रकार अनेक प्रकार के शिथिलाचारों की ये लोग पुष्टि करने लगे और वसतीवासी मुनियों की ये लोग निन्दा करने लगे।

देवर्द्धि(गणि) क्षमाश्रमण तक साधुओं का मुख्य गच्छ एक ही था तो भी कारणवशात् व्यवस्था की दृष्टि से भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित होता था।

जैसे कि शुरूआत में इसके मूल संस्थापक श्रीमहावीर प्रभु के पाँचवें गणधर श्रीसुधर्मास्वामी के नाम से सौधर्मगच्छ[२]

---

१. नवांगीवृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरिजी ने ''आगमअट्ठोत्तरी'' नामक ग्रन्थ की रचना की है ऐसा उल्लेख आजतक मेरे देखने में नहीं आया। फिर भी श्रीशांतिसागरजी के अनुसार यह कोई ग्रन्थ अभयदेवसूरि रचित हो, ऐसा लगता है। तज्ज्ञ विद्वान इस बात पर उचित प्रकाश डालें, ताकि सत्यासत्य का निर्णय हो सके।

२. ऊपर जो शांतिसागरजी ने लिखा है कि ''सुधर्मास्वामीके नाम से सौधर्मगच्छ कहलाया था'' यहाँ से लेकर ''कौटिकगच्छ कहलाया'' तक भ्रांतिपूर्ण है। परन्तु

कहलाता था। तत्पश्चात् चौदहवें पाट पर संमतभद्रसूरि ने वणवास स्वीकार किया, तब वणवासीगच्छ कहलाया। पश्चात् कोटि सूरिमंत्र जाप के कारण कौटिकगच्छ कहलाया। आगे चलकर इसमें अनेक शाखाएं और कुल हो गये। वे आपस में अविरोधी रहे। इसका कारण यह था कि अनेक कुलों, शाखाओं, गणों, गच्छों द्वारा पूरे भारत में व्यापक निर्ग्रंथ श्रमणसंघ की व्यवस्था और संगठन कायम रहे इसलिये सामाचारी सब की एक समान थी। यह बात कल्पसूत्र में दी हुई सामाचारी से स्पष्ट है। भिन्न-भिन्न गच्छ, गण आदि होते हुए भी एक सामाचारी चिरस्थाई होने का कारण यह था कि किसी गणादि में न तो अपने-अपने गणादि का अहंकार था और न ही ममत्वभाव था। वे सब भलीभांति जानते थे कि भिन्न-भिन्न गणादि मात्र श्रमणसंघ में व्यवस्था कायम रखने के लिये ही हैं। जैसे प्रभु महावीर स्वामी ने अपने ग्यारह गणधरों के नौ गण व्यवस्था के लिये बनाये थे। परन्तु उनमें कोई भेदभाव नहीं था।

पर चैत्यवास शुरू होते ही उन लोगों ने अपने स्वार्थ और ममत्व के कारण अपने-अपने गच्छ की प्रशंसा तथा दूसरे गच्छ की

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज द्वारा रचित ३५० गाथा के स्तवन की सोलहवीं ढाल की गाथाए १६ से २१ आदि में तथा न्यायांभोनिधि आचार्य विजयानन्दसूरीश्वर (आत्माराम)जी कृत 'जैन तत्त्वादर्श' एवं दर्शनविजयजी (त्रिपुटी) कृत 'तपागच्छ श्रमणवंश-वृक्ष' में निम्नलिखित वर्णन है -

''श्रीसुधर्मास्वामी से आठवें पाट-आर्य सुहस्ति और आर्य महागिरि तक १-'निर्ग्रंथगच्छ' कहलाता था। २-नवमें पाट सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोटि सूरिमंत्र जाप करने से 'कौटिकगच्छ' कहलाता था। ३-पश्चात् पंद्रहवीं पाट पर स्थविर श्रीचन्द्रसूरि के नाम से 'चन्द्रगच्छ' कहलाता था। ४-तदनन्तर सोलहवीं पाट से श्रीसमन्तभद्रसूरि से 'वणवासीगच्छ' कहलाया।

निन्दा शुरू कर दी। यदि वे ऐसा न करते तो उनके चंगुल में कौन फंसता ? इस प्रकार परस्पर विरोधी गच्छ खडे हुए।

गच्छ शब्द का मूल अर्थ गण है, जिसका अर्थ है साधुओं का समुदाय। इसलिये गच्छ कोई खराब शब्द नहीं है। पर गच्छ के लिये अहंकार, ममत्व, कदाग्रह करना ही बुराई है। चैत्यवास के मठधारियों में स्वार्थवश कुसंप बढा, संगठन टूटा। धीरे-धीरे चौरासी गच्छों का प्रादुर्भाव हो गया। ये परस्पर एक-दूसरे को तोडने लगे। परिग्रह बढाने की होडाहोड में समाधिमय धर्म के स्थान पर कलह-क्लेशमय अधर्म का वातावरण प्रगट हुआ।

१- सदा अवसर्पिणी काल में पांचवां आरा आता ही है अर्थात् अवनति का काल तो सदा आता ही है और ऐसे समय में धर्म की भी अवनति होती है। इसलिये यह कोई नई बात नहीं है। परन्तु यह तो २- हुण्डा-अवसर्पिणी काल होने से कुछ अधिक हानिकर है। 'हुण्ड' अर्थात् अतिबुरा समय होने से इसे हुण्डा-अवसर्पिणी कहते हैं। ऐसा काल अनन्ती अवसर्पिणी के बाद आता है। ३- तथा साथ ही महावीर प्रभु के निर्वाण के समय दो हजार वर्ष का भस्मग्रह भी उसके साथ मिला। ४- इसके साथ ही दसवें अच्छेरे रूप असंयति (चैत्यवासी यतियों की) पूजा भी अपना जोर बतलाने लगी।

इस प्रकार- १-पांचवां आरा, २-हुण्डावसर्पिणी, ३-भस्मग्रह, ४-असंयति-पूजा ये चारों संयोग इकट्ठे होने से चैत्यवास रूप कुमार्ग जैनधर्म के नाम से चारों तरफ व्यापक रूप से फैलने लगा। गुरु स्वार्थी होकर योग्यायोग्य का विचार किये बिना जो हाथ में आया उसे मूंडकर अपनी-अपनी वाडा-बंधियों को बढाने लगे। धीरे-धीरे चैत्यवासियों से भी पतित होकर गृहस्थी बनने लगे।

विवाह-शादियां करने लगे । जमीन, जायदाद, खेतीवाडी से अर्थोपार्जन करने के चक्र में पडकर एक सदाचारी गृहस्थ से भी पतित हो गये । आज ये लोग दिगम्बरों में भट्टारक और श्वेताम्बरों में यति-गुरांजी, महात्मा (भट्टारक) आदि के नाम से छाये हुए हैं । आज जो भी साधु पतित-भ्रष्ट हो जाता है वह प्रायः इन्हीं के गिरोह में शामिल हो जाता है ।

ऐसी पतित अवस्था आ जाने पर भी इनके भगत-रागी श्रावक इनके पंजे में ऐसे जकडे हुए हैं कि इन्हें ही धर्मगुरु मानकर ये लोग जैसा कहते हैं वैसा ही करते हैं । इन्हें प्रत्यक्ष में जानते हुए भी कि वे पतित हैं, भ्रष्टाचारी हैं; उनकी सेवा-भक्ति शुद्ध आचारवाले साधुओं से भी बढ-चढकर करके समाज में अनाचार को प्रोत्साहन देते हैं ।

कारण यह है कि अधिकतर लोग भोले होते हैं । इस भोलेपन से वे कपटी वेषधारी चैत्यवासी अनेक वाडा-बंधियाँ बनाकर और गच्छ तथा वेष की दुहाई देकर लोगों को ठगने लगे ।

यह गडबड थोडे ही समय में बहुत बढ गई । देवर्द्धिगणि के बाद हरिभद्रसूरि ने महानिशीथ सूत्र का उद्धार करते हुए चैत्यवासियों का अच्छी तरह तिरस्कार किया है ।

इसका परिणाम यह हुआ कि निर्ग्रंथ मार्ग विरला प्रायः हो गया । चैत्यवाद की पुष्टि में नये ग्रन्थों की रचना होने लगी । सच्चे साधुओं की अवहेलना के लिये सत्ता का प्रयोग भी होने लगा । राजाओं से ऐसे आज्ञापत्र (पट्टे-परवाने) लिखवा लिये गये कि हमारे पक्ष के यतियों के सिवाय दूसरे यति अथवा संवेगी साधुओं को उनकी वसती के मार्गों में प्रवेश न करने दिया जावे ।

वि० सं० १०८४ में पाटण में जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों से विवाद करके विजय प्राप्त की। तब से पाटण में वसतीवासी संवेगी साधुओं का आना-जाना चालू हुआ। जिनवल्लभसूरि ने राजस्थान में चैत्यवास के विरोध में जोरदार आन्दोलन किया। इस प्रकार चैत्यवास के विरोध का आन्दोलन विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक चालू रहा और धीरे-धीरे चैत्यवासियों का जोर टूटने लगा।

पर काल की गति विचित्र है कि जिन आचार्यों ने चैत्यवास को तोडने के लिये कमर कसी थी उन्हीं के वंशज फिर शिथिलाचारी बनने लगे। वे लोग पंजाब में 'पूजजी', राजस्थान में 'गुराँसा', तथा सौराष्ट्र और गुजरात में 'गोरजी' के नाम से प्रसिद्ध हुए[१]। ये लोग चैत्य (जिनमन्दिरों) में वास न करके मन्दिरों के बाजू में बने हुए उपाश्रयों में निवास करके उन्हें मठ बनाकर मठवासी बन गये हैं। इनके आचार्य श्रीपूज्य कहलाते हैं।

आजकल के वसतीवासी (संवेगी) साधु भी अपने अपने उपाश्रयों को गृहस्थों द्वारा निर्माण करवाकर प्रायः उन्हीं में उतरते हैं। उनके उपाश्रयों में दूसरे संघाडे के साधुओं को ठहरने नहीं दिया जाता।

यह भी उन मठों का रूपांतर है और एक प्रकार का परिग्रह है। क्योंकि उनके पूर्वगुरुओं ने ऐसा करने की अनुज्ञा दी ही नहीं है। अपने निमित्त उपाश्रय, ज्ञानमन्दिर, धर्मशालाएँ बनवाना और उनमें निवास करना तथा ठहरना आधाकर्मी दोष से प्रत्यक्षदूषित हैं।

१. आजकल जो चैत्यवासी घरबारी बनकर बाल-बच्चोंवाले बनते जा रहे हैं, वे लोग अपने आपको 'महात्मा' के नाम से प्रचार करके कुलगुरु बनने का ढोंग रचा रहे हैं।

इसलिये आज फिर अन्धकार का जोर बढता जा रहा हैं। इस अन्धकार को दूर करने के लिए विधिमार्ग के पक्ष की हिमायत में तत्पर तथा सत्य-प्ररूपक रूप पद को धारण करनेवाले मुनिराज श्रीबूटेरायजी (बुद्धिविजयजी) महाराज के परमभक्त (खरतरगच्छीय नेमसागरजी के शिष्य) मुनिश्री शांतिसागरजी महाराज ने गुजराती भाषांतर तैयार किया है। अब प्रस्तावना समाप्त करने से पहले यहाँ लोगों में प्रचलित कुछ शब्दभ्रम को दूर करने की आवश्यकता है।

१- **देरावासी-मन्दिरवासी** - पहला शब्दभ्रम। जिनमंदिर माननेवालों के लिये आजकल 'देरावासी-मंदिरवासी' शब्द प्रयोग किये जाते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। देरावासी-मंदिरवासी शब्द 'चैत्यवासी' शब्द का पर्यायवाची है। इसका अर्थ है 'मंदिर में रहनेवाला।' परन्तु जिनमंदिर को माननेवाला कोई भी व्यक्ति जिनमंदिर में निवास नहीं करता; फिर वह चाहे त्यागी वर्ग साधु-साध्वी हो, चाहे गृहस्थ वर्ग श्रावक-श्राविका हो। और न ही जिनमंदिरों में रहने की शास्त्रों में आज्ञा ही है। क्योंकि मुख पर चौबीस घंटे मुखवस्त्रिका बाँधनेवाले लुंकामती साधु-साध्वीयाँ और गृहस्थ लोग अपने आपको स्थानकवासी कहने और कहलाने में गौरव मानते हैं और इस मत के साधु-साध्वीयाँ इनके निमित्त बनाये हुए स्थानकों में रहते हैं। इन्हीं लोगों ने जिनमंदिर माननेवालों को देहरावासी-मंदिरवासी कहकर उनकी अवहेलना रूप 'चैत्यवासियों' के पर्यायवाची शब्द प्रयोग करके यह सूचित करने की कुचेष्टा की है कि संवेगी साधु-साध्वीयाँ जिनमन्दिरों में निवास करनेवाले मठधारी-परिग्रहधारी है, इसलिये ये शिथिलाचारी है और

वे यह भी कहते हैं कि लुंकामती साधु-साध्वीयाँ ऐसा नहीं करते हैं । परन्तु खेद का विषय है कि गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ में मंदिरमार्गी भाई भी बेसमझी से अपने आपको देहरावासी कहने में गौरव मानते हैं ।''

मनोव्यथा

श्रीवीतराग तीर्थंकर भगवन्तों ने कहा है कि स्वच्छंदी, मत-कदाग्रही जीव पंचमकाल में बहुत होंगे । पर आत्मार्थी को चाहिये कि वह आगम के सही विचारों को समझे और उनके अनुकूल आचरण करे । असंयति अच्छेरे के प्रभाव से कई प्रकार के मत-मतांतर चल रहे हैं । इन मत-मताँतरों के कारण जैनधर्म छलनी-प्रायः हो रहा है । युगप्रधान के बिना सर्वत्र शुद्धमार्ग कैसे प्रसार पा सकता है ? फिर भी मुमुक्षु भव्यजीवों को आगमों को देखकर सरल परिणामों तथा निष्पक्ष वीतराग भाव से जहाँ तक अपनी दृष्टि पहुंचे वहाँ तक तो सम्यक्त्व आदि की शुद्धि से अपनी भूलो का संशोधन कर शुद्धमार्ग को अपनाना चाहिये । आत्मपतन-कारक गडरिया-प्रवाह में तो नहीं पडना चाहिये । आज तक तो असंयतियों (यतियों तथा शिथिलाचारी साधुओं) का अच्छेरा वरत रहा है । कोई विरला भवभीरू खोजी मानव ही वीतराग केवली के कथन की वास्तविक सच्चाई को समझ कर और उसे लक्ष्य में रखकर झूठसच का निर्णय करके सत्यमार्ग को अपने आचरण में लावेगा । कहा भी है कि ''जिन खोजा तिन पाइया तत्त्व तणो विचार'' । मतवाले तो अपने-अपने मत (संप्रदाय) में मतवाले हो रहे हैं । ऐसे लोगों को तत्त्वविचार कैसे आये ? तत्त्व के शुद्ध स्वरूप की गवेषणा के बिना कदापि तत्त्व का विचार नहीं आ सकता ।

कदाग्रही, दृष्टिरागी, अभिमानी, हठी, वासनाओं से वासित व्यक्ति वीतरागमार्ग को कैसे समझ सकता है और कैसे पा सकता है ? कदापि नहीं पा सकता। इस चौबीसी में दस अच्छेरे कहे हैं। सात अच्छेरे भगवान महावीर के तीर्थ में हुए। असंयति अच्छेरा भगवान महावीर के बाद भी हुआ।

यहाँ असंयति अच्छेरे का किंचित् स्वरूप लिखते हैं। महानिशीथसूत्र में कहा है कि –

''भरहे दुसमकाले महव्वयधारी हुंति विरलाओ ।
सावय अणुव्वयधारी अहवा नत्थि सम्मदिट्ठि वा ॥ १ ॥
भरहे दुसमकाले धम्मत्थि साहू-सावगा दुल्लहा ।
नामगुरु नामसाढा सरागदोसा हु अत्थि ॥ २ ॥''

अर्थात् भरतक्षेत्र में दुषम (पंचम) काल में महाव्रतधारी (साधु) विरले होंगे। अणुव्रतधारी श्रावक और सम्यग्दृष्टि भी अल्प होंगे अथवा नहीं होंगे। भरतक्षेत्र में दुषमकाल में धर्मार्थी (मुमुक्षु) साधु–श्रावक दुर्लभ होंगे। साधु का नाम धारण करनेवाले और श्रावक नाम धारण करनेवाले दृष्टिराग दोषवाले प्रायः हैं।

असंयतिपूजा नामक दसवें अच्छेरे का वर्णन महानिशीथ सूत्र के पांचवें अध्ययन में लिखा है कि इस हुण्डावसर्पिणी में दस अच्छेरे हुए हैं। श्रीमहावीर प्रभु के निर्वाण जाने के बाद अनुक्रम से कितने ही असंयतियों के अच्छेरे हुए। आज अधिकतर देखा जाता है कि साधु नाम धराकर मुंडित होते (दीक्षा लेते) हैं। मात्र नामधारी अणगार बनते हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु नाम–धारियों की कमी नहीं। नाम धराकर अपने आपको पुजाते हैं। ऐसा करके

आप तो स्वयं डूबते ही हैं, पर दूसरे जीवों को भी संसार में डूबाते हैं। प्रत्यक्ष छह-काया का आरंभ करते हैं, कराते हैं, और अनुमोदना भी करते हैं। साधु के पांच महाव्रत उचरते (ग्रहण करते) हैं, पर डोली चढते हैं, पालकी, गाडी, घोडे तथा रेलादि में भी चढते हैं। कोई चढते हैं, यदि कोई नहीं भी चढते; पर आपस में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध तो रखते ही हैं। सवारी करनेवाले गुरु को वन्दना-नमस्कार तो करते ही हैं।

कोई धन स्वयं रखते हैं। कोई ज्ञान का नाम लेकर गृहस्थ के पास रखते हैं। कोई दीक्षा ग्रहण करते समय गृहस्थों को ऐसा कहते हैं कि जब हम योगवहन करेंगे तब हमें धन की आवश्यकता पडेगी तब आपसे मंगवा लेंगे। गृहस्थ को कहते हैं कि विहार में मेरे साथ जो पुरुष चलेगा उसको मैं तुमसे रुपये दिलाऊंगा, अभी यह रुपये तुम अपने पास रखो। कोई संवेगी साधु नाम धराते हैं, सर्वत्यागी शीलवंत कहलाते हैं पर तीर्थयात्रा करने जाऊंगा तब रास्ते में खर्चे के लिये रुपये तुमसे मंगवा लूंगा, ऐसा कहकर धनसंग्रह करते हैं।

जहाँ धर्मशाला आदि में ठहरते हैं, वहाँ साधु-साध्वीयाँ, श्रावक-श्राविकाएं एक साथ रहते हैं। एक दिन, दो दिन, मासकल्प तक एक जगह रहते हैं।

दीपक जलाकर रात को कथा करते हैं और सुनते हैं।[१] साधु नाम धराकर सब दिशाओं विदिशाओं में तेउकायादि स्थावर तथा

१. जो साधु-साध्वी रात्री के समय दीपक-बिजली के प्रकाश में व्याख्यान-भाषण आदि करने लगे हैं उनके व्याख्यान में नर-नारियाँ सब आते हैं। रात्री के समय साधु के पास स्त्रियों तथा साध्वीयों के आने-जाने का सर्वथा निषेध है। आगम

त्रस जीवों का घात करते हैं और कहते हैं कि हम तो धर्म का उपदेश देते हैं, बहुत जीव सुनकर धर्म को पाते हैं, दृढ भी होते हैं। इससे धर्म का बहुत उद्योत होता है। दीपकादि जलाकर शास्त्र के पढने से ज्ञान की वृद्धि होती है। नींद नहीं आने से प्रमाद छूटता है।

गृहस्थों से रुपयों, सोनामोहरों आदि से अपनी नवांगी पूजा करवाकर इसमें धर्म की प्रभावना है ऐसी प्ररूपणा करते हैं।

तो क्या ? आज जो कुछ यह हो रहा है वह वीतराग केवली भगवन्तों की आज्ञा के अनुकूल है या प्रतिकूल है ? वीतराग की आज्ञा लोपने में धर्म है अथवा पालने में ? विचारवान विवेकी पुरुषों को इस बात पर विचार करना चाहिये कि क्या ऐसे लोग साधु के वेष में श्रीतीर्थंकर भगवन्तों की आज्ञा का लोप कर अपनी आत्मा को डुबाते नहीं हैं ? अवश्य डुबाते हैं।

इस प्रकार साधु के वेष में अनेक प्रकार की धींगामस्ती मचा रखी है। ऐसा पाखंड चलानेवालों को मुग्ध-लोग (भोले लोग)

में चन्दनबाला तथा चेली मृगावती का प्रसंग आता है कि प्रभु महावीर के जिस समवसरण में सूर्य तथा चन्द्र अपने मूल विमान से आये थे। उसमें चन्दनबाला अपनी शिष्या के साथ प्रभु की देशना सुनने आयी थी। रात्री होने से चन्दनबाला वहाँ से अपने निवासस्थान पर वापिस चली आयी, परन्तु शिष्या को ध्यान नहीं रहा। जब वह देरी से अपनी गुरुणी के पास पहुंची तो उसने कहा कि तुमको दिन अस्त होने से पहले आ जाना चाहिये था। ऐसा करके तुमने वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन किया है।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि साध्वी को अथवा गृहस्थ नारी को रात्री के समय साधु के वहाँ नहीं जाना चाहिये, न ही साधु और पुरुष को साध्वी के वहाँ आना-जाना चाहिए। तीर्थंकर महावीर तो वीतराग केवली थे, काम-विकार-राग-द्वेष से सर्वथा निर्विकार हो चुके थे। जब वहाँ जाने का आगम में निषेध है, तो सामान्य साधु-साध्वी के वहाँ आना-जाना कहां तक उचित हैं ?

गुरु मानते हैं । क्या इसे अच्छेरा कहना चाहिये या नहीं ? हाथ-कंगन को आरसी का क्या काम ? यह तो आंखोंवालों को प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है। अंधे को न दिखलाई दे, वह तो आंखें न होने के कारण लाचार हैं । पर जो सूत्र-अर्थ पढा है, साधु के पाँच महाव्रत धारण कर दीक्षित हुआ है, शुद्धाशुद्ध मार्ग को समझता है और अपने आगम के प्रतिकूल आचरण को, अनाचार और शिथिलता को ढाँपने के लिये यदि वह मुग्ध (भोले) जीवों को अपने फंदे में फँसाने के लिये यह कहता है कि मेरा तो गच्छ और मत एक है और यही सच्चा है, जो मेरे जैसा आचरण नहीं करते वे अन्य गच्छ के हैं। अन्य संघाडे के अथवा अन्य संप्रदाय के हैं।

तो क्या तीर्थंकर भगवन्तों ने ऐसा कहा है कि "तपागच्छ, खरतरगच्छ अथवा कोई अन्य गच्छमत-संप्रदाय शुद्ध होगा और अमुक गच्छ-संप्रदाय अशुद्ध होगा ?" पर प्रभु ने ऐसा तो कही नहीं कहा।

ऐसा प्रभु ने आगमों में कहीं नहीं कहा कि अमुक (नाम लेकर) गच्छ, संघाडा, आम्नाय, संप्रदाय तो शुद्ध है और दूसरा शुद्ध नहीं है। ऐसी प्ररूपणा केवली, चौदह-पूर्वधर, दस-पूर्वधर ने कहीं की हो तो बताओ । अपने-अपने शिथिलाचार, भ्रष्टाचार की पुष्टि के लिये सूत्रों और उनके अर्थों को तोडमरोड कर रख देने से तो जीव अनन्त संसारी होता है, स्वयं भी डूबता है और उस पर श्रद्धा रखनेवाले, उनके सम्पर्क में आनेवाले अज्ञानी, मुग्ध, भोले-भाले जीवों को भी डुबाता है। नदी में रहनेवाली छिद्रोंवाली नौका स्वयं भी डूबती है और उसमें बैठ कर तिरने के इच्छुक भी डूब जाते हैं। आगे केवली, श्रुतकेवली दसपूर्वधर जो फरमावें वह हमें प्रमाण है। पर महापुरुषों

द्वारा रचित महानिशीथसूत्र, गच्छाचार-पयन्ना तथा अन्य सूत्रों के पाठ देखने से तो उन लोगों की उपर्युक्त आचरणा आगम-शास्त्र-विरुद्ध दिखलाई देती है। अपने को गच्छ मानते हैं, दूसरे को मत कहते हैं और उसकी ओट में ऐसे पासत्थों, शिथिलाचारियों को वन्दना आदि करते हैं, उनसे शास्त्रादि सुनते हैं और गुरु मानते हैं। यह आश्चर्य (अच्छेरा) है।

ऐसे लोग प्रायः यह भी कहते हैं कि "पक्षपात में कुछ लाभ नहीं है, राग-द्वेष बढता है। शुद्ध देव, गुरु, धर्म की सेवा करना योग्य है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्याग कर देना चाहिये। जिसने साधु का वेष ले लिया है, उसे गुरु मान कर अवश्य चलना चाहिये।"

पर जो लोग पाँच महाव्रतों को उचार कर साधु का वेष धारण तो कर लेते हैं और आगम शास्त्रों में बतलाये हुए साधु के आचार को पालन न करके उपर्युक्त अनाचार-भ्रष्टाचार सेवन करते हैं, उन्हें सद्गुरु कैसे माना जावे एवं उनके द्वारा प्ररूपित धर्म[१] को सुधर्म मानना कहाँ तक उचित है, विचक्षण महानुभाव इस पर पक्षपात रहित होकर विचार करें। यदि मोहनीयकर्मवश जीवों को विचार न आवे तो दोष किसका ? अन्धे को दर्पण अथवा चिराग दिखलाने से कोई लाभ नहीं हैं। पर कई लोग ऐसे भी हैं कि इस शिथिलाचार के सडे को जानते-समझते हुए भी अनादि काल के मिथ्यात्व के उदय से गच्छमत के राग के कारण अथवा स्वार्थवश कृष्णपक्ष (अंधकार) में डूबे हुए हैं। जिसको ओघदृष्टि घनी (बहुत) है

१. देखें पूज्य बूटेरायजी महाराज द्वारा रचित 'मुखपत्ती-विषय-चर्चा' नामक पुस्तक।

उसने अनन्त पुद्गल परावर्तन करने हैं। उसे तो केवली भगवान का उपदेश भी लाभकारी नहीं होता। अभवियों का तो कहना ही क्या है ? हलुकर्मी जीव तो बादलों को देखकर भी प्रतिबोध पा गये। कई लता, बेल, स्तम्भ आदि को देखकर भी प्रतिबोध पा गये। कई चूडियों आदि की झनकार को सुनकर, अन्यथा वृक्षादि वस्तुओं को देखकर प्रतिबोध पा जाते हैं। तीर्थंकर देव की आज्ञा है कि तीर्थंकरों, गणधरों, श्रुतकेवलियों, पूर्वधर-आचार्यों के ग्रंथों को पढकर सूत्र-अर्थ की शैली, नय-निक्षेप, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद को समझकर विचार कर आगमों के रहस्य को समझे, अथवा कोई सम्यग्दृष्टि आत्मार्थी पंडित पुरुष मिले तो उससे जानकर निश्चय करे। किन्तु ज्ञान बिना सच-झूठ का निर्णय कैसे संभव है ? इसलिये किसी शुद्ध पुरुष की, आत्म-गवेषी की खोज करके उसकी सेवा में रहकर आगमों के रहस्य को समझे। बोधि-बीज और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर वैसी आचरणा करने से आत्म-कल्याण संभव है। इस काल में भगवन्त की आज्ञा में जो जीव हैं, उन्हें त्रिकाल वन्दना है। जिस परम्परा में प्ररूपणा और आचरणा श्रीवीतराग भगवन्तों के आगमों से मेल खाती हो और उसे सब सम्यग्दृष्टि जैनधर्मी एक मत से स्वीकार करते हों, उनकी आगमानुकूल ही श्रद्धा हो, उसको प्रमाण करनी चाहिये। मात्र गाडरिया प्रवाह तथा अबोध-बुद्धि से परम्परा से चलती आ रही रूढी हो एवं वीतराग की आज्ञा के बाहर हो, वह धर्म नहीं है। जहाँ धर्म है वहाँ वीतराग की आज्ञा मुख्य है। यदि कर्मयोग से वीतराग की आज्ञा से विपरीत स्थानक को सेवन किया हो अथवा उस विपरीत मार्ग पर श्रद्धा की हो, वह विपरीत वस्तु आचरण करने योग्य तो कदापि नहीं है। यदि कर्मयोग से छोड नहीं सकता, तो

उसे खोटी जानकर छोडने की अभिलाषा अवश्य करे । वह दिन धन्य होगा, जिस दिन सुदेव, सुगुरु की आज्ञा में चलूंगा, ऐसी भावना रखने से भी कल्याण का कारण है । वीतराग की आज्ञा के बाहर श्रद्धा, स्पर्शना, प्ररूपणा सम्यग्दृष्टि को छोडना उचित है । प्रायश्चित्ताख्यान नामक शास्त्र में स्पष्ट कहा है कि "जिनाज्ञा बाहर कदापि धर्म नहीं है ।"

कुछ प्रश्नोत्तर

गणि मूलचन्दजी पूछते हैं – "गुरुदेव ! आपका यह सब कथन सत्य है, पर जिनाज्ञा का बोध होना दुर्लभ है । जिसको बोध हुआ है, उसको मेरी त्रिकाल वन्दना-नमस्कार हो । मेरी बुद्धि तो अल्प है, जैसे ज्ञानी कहे वैसे प्रमाण है । पर जो कोई अपनी खोटी, अयोग्य, विपरित युक्तियाँ लगाकर अपने मत-कदाग्रह को स्थापन करता है, सिद्धान्त का अपलाप करता है; उसे समकिती कैसे माना जावे ? इस बात का तो बुद्धिमानों को अवश्य विचार करना चाहिये । पर यह तो बतलाइये कि-

(१) वन्दना-सत्कार किसका करना चाहिये और किसका नहीं करना चाहिये ?

उत्तर – मूला ! जिसका व्यवहार शुद्ध हो उसको वन्दनासत्कार करना चाहिये । अशुद्ध व्यवहारवाले को नहीं । पर किसी से दृष्टिराग या वैर-विरोध करना उचित नहीं । सबसे मैत्रीभाव रखना चाहिये । जो हित-शिक्षा माने उसे वीतराग की आज्ञा-संयुक्त हितशिक्षा देनी योग्य है । जो न माने तो यह जान कर कि यह व्यक्ति अयोग्य है, वहाँ मौन रहे । ऐसे व्यक्ति को शिक्षा देना उचित नहीं है । जो कदाग्रही है, आत्मार्थी नहीं है, उसके साथ धर्म-चर्चा अथवा

प्रश्नोत्तर नहीं करना चाहिये । यदि ऐसा व्यक्ति पहले स्वयं प्रश्न अथवा धर्म-चर्चा शुरू करे तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार करके उचित समझे तो बोलना चाहिये, यदि उचित न समझे तो मौन रहे । जैसे आत्मरक्षा हो वैसे करना चाहिये, परन्तु वितंडावाद में, कदाग्रह में पडकर समय और शक्ति का अपव्यय करना योग्य नहीं है । इससे क्लेश के सिवाय और कुछ नहीं है । कहा भी है कि "जिणवयणे अट्ठे परमट्ठे सेसे अनट्ठे ।" जैसे-जैसे अपने तथा धर्म-चर्चा करनेवाले के आत्मधर्म में वृद्धि हो वैसे-वैसे करना चाहिये ।

(२) गुरुदेव ! तीर्थ किसे कहना चाहिये ?

मूला ! जो संसार-समुद्र से स्वयं तरे और दूसरों को तारे उसे तीर्थ कहना चाहिये । वह तीर्थंकर की आज्ञा से संयुक्त हो । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र सहित हो । श्रीश्रमणचतुर्विध संघ को तथा तीर्थपति तीर्थंकर को तीर्थ कहना चाहिये । यह बात विजयलक्ष्मीसूरिजी कृत बीसस्थानक की अन्तिम पूजा में वर्णित है ।

(३) गुरुजी ! संघ किसे कहना चाहिये ?

मूला ! जो जिनागम के निर्मल ज्ञान से प्रधान ऐसे सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र गुणों से युक्त हो और जिनाज्ञा-संयुक्त हो, उसे संघ कहना चाहिये । कहा भी है -

"निम्मलनाणपहाणो दंसणजुत्तो[१] चरित्तगुणवंतो ।
तित्थयराणजुत्तो वुच्चइ एयारिसो संघो ॥

१. १-जिनवचनस्य यथावदवगमः सम्यग्ज्ञानम् ।
२-इदमित्थमेव इति तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।
३-तदुक्तस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम् ।

किन्तु उपर्युक्त गुण रहित को 'समणसंघ' नहीं कहना चाहिये। उसे तो हड्डियों का संघ कहना चाहिये। कहा भी है —

"एग साहू एगा य साहुणी सावयो सड्ढो वा।
आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघो य॥"

अर्थात् एक साधु, एक साध्वी अथवा एक श्रावक, एक श्राविका भी यदि वीतराग केवली की आज्ञा से युक्त है वह संघ है। बाकी तो हड्डियों का पुंज है।

(अ) यदि किसी मिथ्यात्वी व्यक्ति में दया आदि गुण विद्यमान हैं तो वह अनुमोदना के योग्य नहीं हैं। कारण यह है कि उसके गुणगान करने से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। अनजान भोले लोग उनके एक गुण के साथ अनेक अवगुणों का भी अनुकरण कर अपना पतन कर बैठेंगे, इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होगी, महादोषों की प्राप्ति होगी। दूध को दूध माने और विष को विष जाने। दूध को ग्रहण करे, विष का त्याग करे। यदि विषयुक्त दूध की प्रशंसा करे,

---

एतद् रत्नत्रयनाम। अस्य सम्पत्तौ सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षः॥

तदुक्तम् - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः [तत्त्वार्थ १/१]

अर्थात् १-श्रीवीतराग सर्वज्ञ जिनप्रभु द्वारा कथित वचन यथावत् (जैसे हैं वैसे ठीक-ठीक) जानना सम्यग्ज्ञान है। २-ऐसे ज्ञान से प्रधान (जैसा जिनेश्वरदेव ने फरमाया है) यह ऐसा ही है, ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। ३-श्रीजिनेन्द्र प्रभु ने जैसे कहा है वैसा ही आचरण करना सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय है।

इस [रत्नत्रय] की प्राप्ति से सर्वकर्मक्षय रूप लक्षणवाला मोक्ष है। अतः तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय १ सूत्र १ में स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है।

इसीलिये कहा है कि "जो जिनागम के निर्मल ज्ञान से प्रधान ऐसे सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र से युक्त हो- उसे संघ कहना चाहिये। इसके बिना संघ तो हड्डियों का ढेर ही है।"

तो अनजान भोले लोग उस विषमिश्रित दूध को पीकर मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे। वैसे ही यदि मिथ्यादृष्टि में कोई गुण हो तो उसकी अनुमोदना करने से जीव संसारसमुद्र से तर नहीं सकता।

(आ) यदि औषध गुण करनेवाली है, पर उसमें कोई शल्य (तीर-कांटा) आदि पडा हुआ हो उस शल्य सहित औषध को रोगी सेवन कर जावे तो यह अनेक शल्य (व्याधियाँ) उत्पन्न करेगी। लाभ के बदले हानि हो और अन्त में मृत्यु भी संभव हो। इसलिये मिथ्यात्व के तीर आदि को निकाल कर औषध का प्रयोग करे तो जीव मोक्ष का आराधक बन सकता है। दोषयुक्त औषधि से रोग में वृद्धि हो तथा निर्दोष औषधि के सेवन से निरोगता प्राप्त हो ऐसा समझ कर वीतराग केवली प्रभु के कहे हुए कल्पानुसार लक्षणवाले देव, गुरु, धर्म की भाव से सेवा करनी चाहिये। परन्तु झूठ कदाग्रह और हठ में पडना योग्य नहीं है। सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की उपासना करने योग्य है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्याग करना योग्य है।

यह बात कहते तो सब मत-मतांतरोंवाले हैं। परन्तु कहने मात्र से कुछ नही होता। देव, गुरु, धर्म को परखना और उनकी सेवा करना तो दूर की बात है; किन्तु कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की पुष्टि करनेवाले बहुत जीव हैं। यह बात उन जीवों के बस की नहीं है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से उन जीवों की सूझ-बूझ जाती रहती है। सद्विचार नहीं कर पाते।

(इ) जैसे कुलटा-व्यभिचारिणी स्त्री अपने विवाहित पति की तो नाममात्र से कहलाती है। अर्थात् ऊपर से तो ऐसा व्यवहार रखती है कि वह पतिव्रता है, परन्तु जार (पर पुरुष) के साथ रमण करती है। वैसे ही बहुत जीव जैनी नाम धराते है परन्तु रम रहे हैं

मिथ्यात्व में। जैसे मद्यपान करनेवाले जीव की विपरीत बुद्धि हो जाती है वैसे ही इस- १-हूंडावसर्पिणी, २-पंचमकाल, ३-भस्मग्रह, ४-मिथ्यात्व, ५-भरतक्षेत्र इन पाँचों बातों के मिल जाने से कृष्णपक्षी मनुष्यों की अधिकता से सत्यधर्म को समझनेवाले अल्प हैं और समझकर आचरण करनेवाले तो अत्यल्प हैं।

(ई) यदि भवस्थिति परिपक्व हो, धर्मप्राप्ति का अवसर मिले और पुण्यानुबन्धी पुण्य का उदय हो तो जीव को सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा प्राप्त करना संभव है परन्तु जब कदाग्रह छूटे तब न! भवभीरू सरल जीव ही सच्ची श्रद्धा प्राप्त करने का पात्र है। पर स्व-कदाग्रह छोडना अति दुष्कर है। यही कारण है कि सुगुरु और श्रद्धावान जीव तो कोई विरला ही होता है। मतांध कदाग्रही जीव बहुत हैं। धन्य वे जीव हैं, जो केवली-प्ररूपित धर्म को पाते हैं।

(उ) जो जीव सम्यक्त्व सहित हो, वही अणुव्रतों तथा महाव्रतों के योग्य होता है। सम्यक्त्व युक्त महाव्रतों अथवा अणुव्रतों सहित जीव प्रत्यक्ष मिल जावे, यदि उस की प्रमाद से भी यथायोग्य भक्तिविनय न की जावे अथवा जानबूझ कर उपेक्षावृत्ति की जावे तो अपना सम्यक्त्व मलीन होता है अथवा मूल से भी चला जाता है।

(४) पूज्य गुरुदेव! यदि कोई यह कहे कि मुझे तो खबर नहीं पडती कि मैं मिथ्यादृष्टि हूँ या सम्यग्दृष्टि हूँ? तो इसको जानने का उपाय क्या है?

मूला! यदि तुम को अपने लिये खबर नहीं पडती तो तुम को दूसरे की भी खबर नहीं पड सकती। इसको जानने का उपाय तो यह है कि कदाग्रह, राग-द्वेष को छोड कर, पक्षपात का त्याग कर आत्मार्थी बनो और पवित्र धर्मार्थी पुरुषों की संगति करो। आगम-

सूत्र शास्त्र पढने-सुनने का पुरुषार्थ करो, तब तुमको ज्ञान की प्राप्ति होगी। तब तुम स्वयं जान पाओगे कि सम्यक्त्व के लक्षण तुममें हैं अथवा नहीं ? वीतराग प्रभुने कहा है कि जो अपने आप (आत्मा) को जानता है वह दूसरे को भी जानता है। "जे अप्पं जाणइ से परं जाणई ॥"

यह सम्यक्त्व की प्राप्ति या जानने का उपाय है। कहा भी है –

"जे जे अंसे रे निरूपाधिकपणो, ते ते जाणो रे धर्म।
सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणा धनी जोवा लहे शिवशर्म ॥
श्रीसीमंधर साहेब साँभलो ॥

(दोहा) **गुण जानो ते आदरो, अवगुणथी रहो दूर।**
ए आज्ञा जिनराजनी, एहि ज समकित मूल।
समभावी गीतार्थ नाणी, आगम माँहि लहिए रे।
आत्मार्थी शुभमती सज्जन,
कहो ते विण किम कहिये रे ॥ १ ॥

(उपा० यशोविजयजी कृत ३५० गाथा के स्तवन की ढाल ६ गाथा १७)

विषय रसमां ग्रही माच्यो, नाचियो कुगुरु मदपूर रे।
धूमधामे धमाधम चली, ज्ञान मारग रहियो दूर रे ॥१॥

(यशो० १२५ गाथा के स्तवन की ढाल १ गाथा ७)

(५) गुरूजी ! आत्मार्थी भव्य जीव को क्या करना चाहिये ?

मूला ! आत्मार्थी भव्य जीवों को चाहिये कि यह पूर्वाचार्यों, गीतार्थों द्वारा किये गये मूल आगमों पर निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका के अनुसार आचरण करनेवाले गच्छ तथा सामाचारी का आदर

करें । यह सम्यक्त्व का लक्षण है । तथा ऐसी आम्नाय माननेवाले आचार्यों, उपाध्यायों, साधुओं की निश्रा में रहकर मोक्षमार्ग का आचरण कर आत्मकल्याण करें । नाम का झगडा नहीं, उस गच्छ का नाम चाहे कुछ भी हो ।

(६) गुरूजी ! आपने तपागच्छ स्वीकार किया है, उसका हेतु क्या है ?

मूला ! (अ) हम लोग लुंकामतियों में से आये हैं । वह मत आगमों के अनुकूल न होने से हमने उसका त्याग किया है । पंजाब में संवेगी साधु न होने से हमें शुद्ध गुरु-परम्परा का कोई परिचय नहीं था । तब तक तो हम यही समझते थे कि वीतराग केवली प्ररूपित धर्म को माननेवाले साधु-संत आजकल नहीं है । परन्तु प्रभु महावीर ने अपने शासन को इक्कीस हजार वर्षों तक विद्यमान रहने का फरमाया है - ऐसा आगमों में वर्णन है । इसलिये मेरे मन में यह भी संकल्प उठता रहता था कि कहीं न कहीं शुद्धमार्ग का आचरण करनेवाले साधु-संत अवश्य होने चाहियें ।

(आ) भावनगर में आकर मैंने महोपाध्याय यशोविजयजी, योगीराज आनन्दघनजी, उपाध्याय देवचन्द्रजी, हरिभद्रसूरिजी, सिद्धसेन दिवाकरजी आदि अनेक संवेगी मुनिराजों के ग्रंथों को पढने तथा मनन करने का अवसर प्राप्त किया । मेरी श्रद्धा तो उपाध्यायश्री यशोविजयजी के साथ बहुत मिलती है । उपाध्यायजी नाममात्र से तपागच्छ के कहलाये । पर वे गच्छों के झमेलों से बहुत ऊँचे थे । आपके ग्रंथों ने मेरे मन पर गहरी छाप डाली । इस पर से मेरा विचार तपागच्छ में दीक्षा लेने का हुआ ।

(इ) योग्य गुरु की खोज के लिये गुजरात में आने पर भी लगभग दो वर्ष निकाल दिये। वि० सं० १९१० (ई० स० १८५३) में हम लोग गुजरात में आये। गुरु की खोज में गुजरात और सौराष्ट्र में पालीताना, भावनगर, अहमदाबाद आदि अनेक नगरों में घूमे, उस समय बहुत ही अल्प संख्या में मात्र गुजरात और सौराष्ट्र में ही संवेगी साधु थे। अहमदाबाद में मुनि मणिविजयजी से मिलने पर ऐसा अनुभव किया कि आप भद्र-प्रकृति, शांतस्वभाव गुणयुक्त हैं। इसलिये इनके पास दीक्षा लेने के लिये प्रेरित हुआ। वि० सं० १९१२ (ई० स० १८५५) में तुम (मूलचन्द और वृद्धिचन्द) दोनों के साथ आपके पास तपागच्छ की दीक्षा ग्रहण की। यह तो तुम जानते ही हो।

(७) गुरुदेव ! क्या इस गच्छ में सब साधु शुद्ध सामाचारी पालन करनेवाले हैं ?

मूला ! (अ) हमने तपागच्छ स्वीकार किया है, तपा-कुगच्छ नहीं। सब जीव एक समान नहीं होते। जो आत्मार्थी मुमुक्षु होते हैं वे पूर्वाचार्यों द्वारा कथित शुद्ध सामाचारी पालने से ही आत्म-साधन करते हैं। दूसरों के दोष-दर्शन करने से अपनी आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। उपाध्याय यशोविजयजी आदि महापुरुषों के ग्रंथों को पढने से तपागच्छ-सामाचारी मुझे आगमानुकूल प्रतीत हुई है। यदि हमें अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो इसकी शुद्ध सामाचारी का आचरण हमें करना है। जो आचरण में लावेगा उसी का कल्याण होगा। जो आचरण नहीं करेगा वह आराधक नहीं, विराधक है। विराधक का कल्याण संभव नहीं।

(आ) हम पंजाब से आये हैं। वहाँ हम लोग साधु के नियमों का दृढता और कठोरतापूर्वक पालन करते आये हैं। गुजरात और सौराष्ट्र में विचरनेवाले साधु के आचार-व्यवहार से हमारा कई बातों से मेल नहीं खाता । एक जगह पर स्थिरवास और शिथिलाचार हमें उचित नहीं जचा। इसी लिये संवेगी दीक्षा लेने के बाद अपने शिष्य-परिवार के साथ हम लोग अलग रहे हैं, ताकि यह शिथिलता हमारी शिष्य-परम्परा में भी न पैठ जावे।

(इ) अहमदाबाद में सेठ हठीभाई की वाडी में डेलावाले रतनविजय द्वारा एक बाई की दीक्षा के समय साधुओं की रुपयों से पूजा के समय हमने ऐसे शिथिलाचारियों का जो विरोध किया है वह उचित ही है। शिथिलाचार-भ्रष्टाचार के ये सब उदाहरण तुम लोगों ने प्रत्यक्ष देख ही लिये हैं। अतः हमारे शिष्य-परिवार में किसी भी प्रकार का शिथिलाचार-भ्रष्टाचार न आने पावे और जो पूर्वाचार्यों-गीतार्थों द्वारा प्रतिपादित साधुसामाचारी के अनुकूल न हो, उसके लिये हम लोगों को सदा सतर्क रहना है।

(ई) मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरा महोपाध्याय यशोविजयजी के प्रति अनुराग बढा। इनकी सामाचारी देखकर इनके प्रति मेरा मन आकर्षित हुआ। परन्तु इस समय में मुझे उनकी कोटि का कोई योग्य गुरु दृष्टिगत न हुआ कि जिससे मैं संवेगी दीक्षा ग्रहण करता। यह सोचकर कि लोकव्यवहार से तो अवश्य गुरु धारण करना ही चाहिये । इसलिये उपाध्यायजी की सामाचारी के अनुयायी को लोकव्यवहार से गुरु धारण कर तपागच्छ की सामाचारी ग्रहण की है।

(उ) राजनगर (अहमदाबाद) में रूपविजय के डेले में सौभाग्यविजयजी से वासक्षेप लेकर मणिविजयजी के नाम की

दीक्षा धारण की है और तपागच्छ को धारण किया है। संवेगी बडी दीक्षा लेने के बाद हम सेठों की धर्मशाला में चले आये थे। बस उनके साथ मेरा इतना ही सम्बन्ध है।

(ऊ) मैंने कर्मवश पंचमकाल में भरतक्षेत्र में जन्म लिया है, वैराग्य भी हुआ, लेकिन शुद्ध गुरु का संयोग न मिला। यह मेरे पूर्वकृत पाप का उदय है। शास्त्रों को देखने, पढने तथा पृच्छना से जो कुछ ज्ञान की प्राप्ति हो सकी वह प्राप्त कर पाया। मात्र यह पुण्य का उदय समझना चाहिये। आगे ज्ञानी जाने।

(८) गुरुदेव ! गच्छ-कुगच्छ का निर्णय कैसे किया जावे ?

मूला ! गच्छ-कुगच्छ का निर्णय महानिशीथ, गच्छाचार-पयन्ना, आचारांग, दशवैकालिक आदि सूत्र तथा प्रमाणिक गीतार्थ आचार्य, उपाध्याय, साधु-महाराजों की बनाई हुई निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि को देखकर, जो गच्छ तथा सामाचारी चतुर्दश-पूर्वधर श्रीसुधर्मास्वामीजी की प्ररूपणा के अनुकूल हो, वह गच्छ तथा सामाचारी स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है और उसी पर ही श्रद्धा करना सम्यक्त्व का लक्षण है। गच्छ के नाम पर दृष्टिराग, नामभेद, झगडा यथार्थ नहीं है। गच्छ का नाम चाहे कुछ भी हो, सामाचारी शुद्ध होनी चाहिये। आज तो मुनिधर्म का पालन करनेवाला, तपागच्छ की शुद्ध सामाचारी पालन करनेवाला कोई विरला ही है। मेरी श्रद्धा मेरे पास है, दूसरे की उसके पास है। साक्षी तो केवली भगवन्त हैं।

(९) गुरुजी ! सामाचारी किसे कहते है ?

मूला ! सामाचारी उसे कहते है जो मुनि के शुद्ध आचार-पालन करने के लिये उपयुक्त हो। जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार,

चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार; मुनि के इन पाँच आचारों से युक्त हो वह गच्छ कहलाता है। इनसे रहित गच्छ और सामाचारी कैसे संभव हो सकते हैं ? यह बात आत्मार्थी, सरल स्वभावी, मुमुक्षु, ज्ञानी भव्यात्मा के बिना समझ में नहीं आ सकती।

इस प्रकार समय-समय पर अनेक प्रकार की शंका-समाधान करने के लिये और वस्तुस्थिति को समझने के लिये तथा ज्ञान की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार की चर्चाएं गुरु और शिष्यों में होती रहती थीं। क्योंकि गणिश्री मूलचन्दजी अधिकतर गुरुजी की निश्रा में ही रहे हैं।

गुरुराज बूटेरायजी महाराज वि० सं० १९३१ (ई० स० १८७४) का चौमासा भावनगर में करके अहमदाबाद पधारे। गणि मूलचन्दजी महाराज भी चौमासे उठे अहमदाबाद पधार चुके थे।

हम पहले लिख चुके हैं कि पंजाब में लुंकामती-स्थानकमार्गियों का बहुत जोर था। सत्यवीर मुनिश्री बूटेरायजी ने इस मत का त्याग कर पंजाब में ही श्रीवीरप्रभु के सत्यधर्म को स्वीकार किया। यहाँ पर आपने अकेले ही किस प्रकार वीरता, निडरता और धीरता के साथ सत्यधर्म का पुनरुद्धार किया, अब आपसे यह छिपा नहीं रहा। आप पंजाब में वि० सं० १९०१ से १९०८ तक तथा वि० सं० १९१९ से १९२९ तक सत्यधर्म का पुनरुद्धार कर वापिस गुजरात पधार गये।

मुनिश्री मूलचन्दजी ने वि० सं० १९०२ में गुजरांवाला में दीक्षा ली और वि० सं० १९०७ तक वहाँ ही रहे। तथा वहाँ पर सुश्रावक शास्त्री लाला कर्मचन्दजी दूगड से जो जैनागमों तथा जैनदर्शन के मार्मिक विद्वान थे, शास्त्राभ्यास करते रहे। इसलिये उनका पंजाब

में विचरना नहीं हुआ। वि० सं० १९०८ में पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी के साथ मुनि मूलचन्दजी दिल्ली पधार गये। यहाँ पर वृद्धिचन्दजी ने पूज्य गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण की और इन तीनोंने अन्य दो साधुओं के साथ (कुल पांच साधुओं ने) वि० सं० १९०८ का चौमासा दिल्ली में किया बाद में वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए गुजरात में पधार गये। जब पूज्य गुरुदेव वि० सं० १९१९ में पुनः पंजाब पधारे तब मुनिश्री मूलचन्दजी और वृद्धिचन्दजी दोनों पंजाब न जाकर गुजरात-सौराष्ट्र में ही विचरण करते रहे। यह बात इस चरित्र को पढने से पाठकों ने जान ली है। ये दोनों पूरे जीवनपर्यन्त गुजरात-सौराष्ट्र में ही विचरे है और इधर ही इनका स्वर्गवास भी हुआ है। इन्हें पंजाब में सद्धर्म के प्रचार का अवसर प्राप्त ही न हो सका।

मुनि श्रीआत्मारामजी

इस युग में पंजाब में पूज्य आत्मारामजी महाराज ने वि० सं० १९१० (ई० स० १८५३) में मुनि जीवनरामजी से लुंकामती स्थानकमार्गी मत की साधु दीक्षा ग्रहण की। जैनागमों के अभ्यास से मालेरकोटला (पंजाब) में आपने इस मत को जैनागमों के प्रतिकूल समझकर यहाँ से ही इसी मत के साधु के वेष में रहते हुए वि० सं० १९२१ (ई० स० १८६४) से सत्यधर्म के प्रचार का बिगुल बजा दिया। वि० सं० १९३१ (ई० स० १८७४) तक १० वर्षों में आपने इसी वेष में लुधियाना से दिल्ली, बिनौली, बडौत तक सद्धर्म का प्रचार किया। इन दस वर्षों में लुंकामतियों की तरफ से अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों तथा उपद्रवों के करने पर भी आपने बडी जवाँमर्दी से सब मुसीबतों को झेलते हुए बीस लुंकामती स्थानकमार्गी साधुओं को (जिनको आपने स्वयं प्रतिबोधित किया

था) और हजारों परिवारों को शुद्ध सत्यधर्म के अनुयायी बनाये। आपने वि० सं० १९३१ (ई० स० १८७४) का चौमासा होशियारपुर (पंजाब) में करके अपने सहयोगी १५ साधुओं को साथ में लेकर पंजाब से विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हाँसी नगर के रास्ते में आप लोग एक रेत (बालू) के टिब्बे (टीले) पर बैठ गये। आपके सभी साथी साधुओं ने मिलकर आपश्री (आत्मारामजी) से निवेदन किया कि –

''पूज्य गुरुवर्य ! आपके सहवास में रहकर हमलोगों ने बहुत कुछ सत्यधर्म को समझा है। जैसे कि —

(१) इस स्थानकपंथ की प्राचीनता का श्रीमहावीर प्रभु तथा श्रीसुधर्मास्वामी की परम्परा में कोई स्थान नहीं है। इसके मूल पुरुष लौंका और लवजी हैं। लौंकाशाह विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में और लवजी विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पहले चरण में हुए है। इसलिये सोलहवीं शताब्दी से पूर्व इस पंथ का अस्तित्व नहीं था। इस पर भी बिना प्रमाण के इस मत के पंथ को वीर परंपरा का प्रतिनिधि कहना या मानना अपने आपको धोखा देना है।

(२) इसी प्रकार मुँहपत्ती का बाँधना भी शास्त्र के विरुद्ध है। जैन परम्परा में मुँह बाँधे रखने की प्रथा विक्रम की अठारहवीं शताब्दी (वि० सं० १७०९) में लवजी से चली है। इससे पहले प्राचीन वीर परम्परा में तो क्या, लौंकागच्छ में भी इस प्रथा का अस्तित्व नहीं था। जैनागमों से इस वेष का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) जिनप्रतिमा की उपासना गृहस्थ का शास्त्रविहित अत्यन्त प्राचीन आचार है। जिनप्रतिमा की भाव से उपासना करने का

विधान साधु के लिए और द्रव्य-भाव से गृहस्थ के लिए शास्त्र-विहित है।

(४) इस पंथ का साधुवेष जैनागम सम्मत वेष नहीं है, किन्तु स्वकल्पित है और वास्तव में विचार किया जावे तो यह पंथ लौंका और लवजी की मनःकल्पित विचारधारा की ही उपज है।

इस पंथ की परम्परा के साधु वेष में सबसे अधिक महत्त्व का स्थान मुखवस्त्रिका (मुँहपत्ती) को ही प्राप्त है। जब कि जैनागमों में साधु-दीक्षा के लिये केवल रजोहरण और पात्रां इन दो का ही उल्लेख है। मुखवस्त्रिका को वहाँ स्थान नहीं दिया। कोई व्यक्ति कितना भी ज्ञानवान या संयमशील क्यों न हो, पर जब तक उसके मुँह पर डोरेवाली मुखवस्त्रिका न बँधी हो तब तक वह साधु नहीं कहला सकता और न ही उसे वन्दना-नमस्कार किया जाता है। आजकल तो इस मत के विद्वान साधुओं में भी इसका व्यामोह अपनी सीमा को पार कर गया है। उन्हों ने तीर्थंकरों, गणधरों तक के मुख को भी डोरेवाली मुँहपत्ती से अलंकृत करके अपनी विद्वत्ता को चार चांद लगा दिये हैं। साम्प्रदायिक व्यामोह में सब कुछ क्षम्य है। संक्षेप में कहें तो इस पंथ में मुँहपत्ती की उपासना को जिनप्रतिमा की शास्त्रविहित उपासना से कहीं अधिक महत्त्व का स्थान प्राप्त है।

महाराजश्रीजी ! आपको इस संप्रदाय के मानस का खूब अनुभव है, तभी आपने अपनी धार्मिक क्रांति में मुँहपत्ती को मुँह पर बाँधे रखा और उसे आपने आज तक अपने मुख से अलग नहीं किया। क्योंकि मानव के मानस को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उसकी आवश्यकता प्रतीत होती रही है। इस दृष्टि से देखें तो

आपको क्रांतिप्रधान धार्मिक आन्दोलन में इस मुखवस्त्रिका ने भी काफी सहायता दी है । पर अब इसको मुँह पर बाँधने की क्या जरूरत है ?

इस प्रकार वार्तालाप करने के बाद सब १६ साधुओं ने अपनी-अपनी मुँहपत्ती का डोरा तोडकर मुख पर से अलग कर दिया ।

यहाँ से विहार करते हुए आप सब साधु पाली (राजस्थान) में पधारे । जब अहमदाबाद के नगरसेठ प्रेमाभाई हेमाभाई तथा सेठ दलपतभाई भगुभाई को आपके पधारने के समाचार मिले, तब उन्होंने दो आदमियों को आप मुनिराजों को अहमदाबाद पधारने की विनती करने के लिये भेजा । वे दोनों श्रावक विहार में अहमदाबाद तक आपके साथ ही रहे ।

आपने पंजाब से रवाना होने से पहले, आपके साथ सब मुनिराजों ने सर्वसम्मति से जो कार्यक्रम निश्चित किया था, उसमें मुख्य तीन बातें थी –

(१) लुंकामती के साधु के स्वकल्पित वेष को त्याग कर प्राचीन जैन परम्परा के साधुवेष को विधिपूर्वक धारण करना ।

(२) श्रीशत्रुंजय, गिरनार, आबु, तारंगा आदि प्राचीन तीर्थों की यात्रा करना ।

(३) पंजाब में वापिस आकर शुद्ध जैन धर्म का प्रचार तथा प्रसार करना ।

इस सद्भावना के साथ मुनिश्री आत्मारामजी महाराज ने अपने साथी १५ मुनियों के साथ अहमदाबाद की तरफ विहार कर दिया । पाली (राजस्थान) में श्रीनवलखा पार्श्वनाथ, वरकाणा में

श्रीपार्श्वनाथ, नाडोल में श्रीपद्मप्रभु, नाडुलाई में श्रीआदिनाथ, घाणेराव में श्रीमहावीर प्रभु, सादडी और राणकपुर में श्रीऋषभदेव प्रभु के दर्शन करके अपने आपको कृतार्थ किया । वहाँ से सिरोही पधारे । वहाँ पर एक ही आधार-शिला पर निर्मित १४ जिनमंदिरों का दर्शन किया । ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आबू पधारे और यहाँ की यात्राकर अचलगढ पधारे । यहाँ से पालनपुर पधारे । कुछ दिन यहाँ ठहरकर ग्रामानुग्राम विचरते हुए वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) को अहमदाबाद में प्रवेश किया ।

अहमदाबाद में भव्य स्वागत

अहमदाबाद गुजरात की जैन-नगरी कही जाती हैं । यहाँ लगभग १०० जैन मंदिर और दस हजार जैन श्रावकों के घर हैं । जब नगरशेठ प्रेमाभाई हेमाभाई और सेठ दलपतभाई भगुभाई को पता लगा कि मुनिश्री आत्मारामजी आदि पंजाबी साधु अहमदाबाद के निकट पहुँच गये हैं तो उनके हर्ष का पारावार न रहा । उन्होंने सारे जैन समुदाय को समाचार कहला भेजा । समाचार मिलते ही थोडीसी देर में नगरसेठ के वहाँ सब भाविक स्त्री-पुरुष एकत्रित हो गये । नगरसेठ प्रेमाभाई तथा इनके साथी सेठ दलपतभाई आदि लगभग तीन हजार श्रावक-श्राविकाओं के समुदाय ने अहमदाबाद के बाहर तीन मील की दूरी पर आगे चलकर महाराजश्री आत्मारामजी आदि साधु-समुदाय का सहर्ष स्वागत किया और विधिपूर्वक वन्दना-नमस्कार करके बडी धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया और सेठ दलपतभाई के बंगले में ठहराया ।

धर्मप्रवचन के बाद आपश्री ने गुजरात देश में अपने आने का प्रयोजन बतलाया और कहा कि मेरे साथ में सब साधुओं की इच्छा

शीघ्र ही तीर्थराजश्री सिद्धाचलजी की यात्रा करने की है। सिद्धाचलजी की यात्रा करने के बाद फिर हमारा इधर आने का भाव है। जनता ने आपश्री को अधिक दिन तक यहाँ ठहरने की विनती की। श्रीसंघ की विनती को मान देते हुए आपश्री ने कुछ दिन और यहाँ स्थिरता की स्वीकृति दी। पूज्य आत्मारामजी जिन दिनों यहाँ पधारे उन दिनों यहाँ का धार्मिक वातावरण भी कुछ विक्षुब्ध सा हो रहा था। कई एक कुलगुरुओं ने उत्सूत्र प्ररूपणा से धर्म के विशुद्ध स्वरूप को विकृत कर दिया था। बहुतसी अबोध जनता इनके चंगुल में बुरी तरह से फंसी हुई थी। रविसागर के शिष्य श्रीशांतिसागरजी इन सब में शिरोमणि थे।

मुनिश्री आत्मारामजी की क्रांतिप्रधान धर्मघोषणा ने जहाँ अहमदाबाद की अबोध जैन जनता के अन्धकारपूर्ण हृदयों में प्रकाश की किरणें डालकर उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान कराया; वहाँ श्रीशांतिसागर जैसे उत्सूत्रप्ररूपक के हृदय में भी एक प्रकार की हलचल पैदा कर दी। उसने आपके प्रवचन से प्रभावित हुए अपनें भक्तों को जब विमुख होते देखा तो श्रीआत्मारामजी से शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव किया।

पूज्य आत्मारामजी के साथ कुलगुरु शांतिसागर का शास्त्रार्थ

अहमदाबाद में शांतिसागर ने स्वतंत्र आध्यात्मी मत चलाया था। उसमें त्याग और तपस्या को स्थान ही न था। खाते-पीते मोक्ष मिले ऐसी इस मत की प्ररूपणा थी। आत्मा को कष्ट नहीं देना, भूखे नहीं रहना, आत्मा को दुःखी होने नहीं देना। खाना-पीना तो व्यवहार है, यह शरीर का धर्म है। शरीर कुकर्म करे तो शरीर ही

भोगे। देह का दंड देह को मिले। इस में जीव को कोई लाग-लपेट नहीं। आत्मा तो सदा के लिये निरंजन निराकार है। वह खाती नहीं, पीती नहीं। इस लिये खाने-पीने का दोष जीव को नहीं लगता। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ।" 'मन चंगा तो कठौती में गङ्गा'। शरीर उदय के आधीन है। वह चाहे जो कुछ करे इसमें आत्मा का क्या दोष ? चाहे जो करो पर मन को साफ रखो तो मोक्ष सामने खडा है। इत्यादि अनेक तर्कणाओं पर यह मत खडा था।

अहमदाबाद में बहुत लोग इसके अनुयायी थे। क्रियाकांड और तपस्या को छोड बैठे थे। धनी, मानी, प्रतिष्ठित परिवार भी इस मत को मानने लगे थे। नगरसेठ प्रेमाभाई का एक भद्रिक पुत्र भी इस पंथ का अनुयायी था। श्रीशांतिसागर गुरुदेव बूटेरायजी को अपना गुरु मानता था। अपने मत के प्रचार और प्रसार के लिये यह भी इसकी एक चाल थी।

अहमदाबाद में इस मत के कारण संघ में दो धडे हो गये थे। सहज में ही संघर्ष होने की सदा संभावना बनी रहती थी। नगरसेठ भी कुछ समाधान लाने में असमर्थ बन चुके थे। इस प्रकार धर्म का ह्रास हो रहा था।

शांतिसागरजी के प्रस्ताव का पूज्य आत्मारामजी ने सहर्ष स्वागत किया। अगले दिन श्रीशांतिसागर ने आकर आपसे जो प्रश्न किये, उनका हजारों की मानवमेदनी के सामने आपने शास्त्रों के आधार से इतना सचोट उत्तर दिया कि शांतिसागरजी को निरुत्तर होकर वहां से प्रस्थान करने के सिवाय और कोई मार्ग न सूझा।

इस शास्त्रार्थ का अहमदाबाद की जैन जनता पर बडा भारी प्रभाव पडा। अभी तक जो लोग शांतिसागर का कुछ पक्ष लिये बैठे थे, उन्होंने भी पल्ला झाड दिया और उसका साथ छोड दिया।

महाराजश्री आत्मारामजी की अपूर्व विद्वत्ता, प्रतिभा और समयज्ञता की जनता द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी। आपके तेजस्वी प्रभाव के आगे शांतिसागर का व्यक्तित्व अमावस के चन्द्रमाँ की भांति निस्तेज होकर रह गया। सभा विसर्जित होने के बाद नगरसेठ प्रेमाभाई तथा दलपतभाई ने हाथ जोड कर कहा - ''कृपानाथ ! निदाघजन्य महाताप से संतप्त मानवमेदनी को शांति पहुंचानेवाले वर्षाकालीन मेघ की भांति आपश्रीने सचोट युक्तियों द्वारा शास्त्रार्थ करके यहाँ की संतप्त जनता के शांतरस संचार किया है। हम आपकी इस कृपा के लिए चिरंऋणी रहेंगे। यहाँ का संघ आपका ज्ञान और वाद-विवाद की कुशलता देखकर बहुत खुश हुआ है। आपश्री सिद्धाचलजी की यात्रा करके शीघ्र यहाँ पधारने की कृपा करियेगा।''

श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा

पूज्य आत्मारामजी ने अपने १५ साथी मुनियों के साथ अहमदाबाद से श्रीसिद्धाचलजी की यात्रा के लिये विहार किया और ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पालीताना पधार गये। श्रीसिद्धगिरि के भव्य जिन-प्रासादों में विराजमान श्रीऋषभदेव आदि तीर्थंकर देवों के पुण्य दर्शन की चिरंतन अभिलाषा की पूर्ति का पुण्य अवसर आया और सिद्धगिरि पर चढते हुए सब साधुओं के साथ आदीश्वर भगवान के विशाल मंदिर में पहुँचे। जहाँ प्रभु शांतमुद्रा में विराजमान थे।

वीतराग प्रभु श्रीआदिनाथ के दर्शन करते ही आप तथा आपके साथ अन्य साधुओं के मन आनन्द से विभोर हो उठे। प्रभुदर्शन का निर्निमेष दृष्टि से पान करते हुए ऐसे तल्लीन हुए कि कुछ क्षणों के लिये अपने आपको भी भूल गये। आदिनाथ प्रभु के दर्शन करने के बाद अन्य मंदिरों के दर्शन करने में सारा दिन लग गया, परन्तु किसी को भी भूख-प्यास का अनुभव तक न हुआ। पहाड से नीचे उतरकर आहार-पानी किया और सायं-प्रतिक्रमण करके सब ने विश्राम किया। इसी प्रकार निरंतर कई दिनों तक यात्रा करके सब मुनिराज कृतकृत्य हुए।

पालीताना से विहार कर भावनगर, वला, पच्छेगाम, लाखेणी, लाठीधर, बोटाद, राणपुर, चूडा और लींबडी आदि अनेक ग्रामों-नगरों में विचरते हुए वहाँ के सैकडों जिनमंदिरों की यात्रा करते हुए तथा जनता को सद्‌बोध देते हुए अहमदाबाद पधारे। यहां की जनता ने आप का अपूर्व स्वागत किया।

सद्‌गुरु की खोज में

आपने साधुमार्गी मत को विशुद्ध जैन परम्परा से बाह्य अन्यलिंगी होने के कारण त्याग दिया था और प्रभु महावीर भाषित जैनधर्म को अपनाकर भाव से श्रमण, अर्थात् श्रमण भगवान महावीर स्वामी के धर्मानुगामी तो आप वि० सं० १९२१ (ई० स० १८६४) से ही हो चुके थे। परन्तु भगवान की परम्परा का जो वेष है उसे विधिपूर्वक धारण करना बाकी था। "दव्वो भावस्स कारणं" इस युक्ति के अनुसार भावसाधुता के साथ द्रव्यसाधुता का होना जरूरी है। ऐसा विचार करके आपने सुयोग्य गुरु की खोज की। इतने में अहमदाबाद में विराजमान श्रीबुद्धिविजय

(बूटेरायजी) महाराज की ओर आपका ध्यान गया। उनका ध्यान आते ही आपने उन्हीं के चरणों की शरण ग्रहण करने का निश्चय किया।

आप सोचते हैं – ''पूज्य बूटेरायजी भी पंजाबी हैं और मैं भी पंजाब का हूँ। मेरे सब साथी मुनिराज भी पंजाबी हैं। वे भी पहले लुंकामत में दीक्षित हुए और हम लोग भी। बाद में आपने भी इसे अन्यलिंगी और असार समझकर त्यागा और मैंने भी इसे जैनागम-बाह्य मनःकल्पित समझकर छोड दिया। आपने भी जाट-क्षत्रीय और मैंने भी कपूर-क्षत्रीय जाति में जन्म लिया। आपने सारे पंजाब में अकेले ही महावीर प्रभु के धर्म का डंका बजाया और मैंने भी आप के समान कंटकाकीर्ण क्षेत्र को कंटकविहीन बनाने में भगीरथ प्रयत्नों का अनुकरण करके अपने साथी मुनियों के साथ उसे निष्कंटक बनाने का दृढ संकल्प किया है। आपश्री ने पंजाब में यति-संघ से शिथिलाचार तथा लुंकापंथ की शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा को निस्तेज बनाने के लिये, श्रीमहावीर प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमानुकूल सत्यधर्म के प्रचार और प्रसार के लिए भयंकर उपसर्ग तथा कठोर परिषहों को एकाकी सहनकर सत्यवीर सद्धर्मसंरक्षक होने का परिचय दिया है, तो मैंने भी उसी क्षेत्र में आपके अधूरे कार्य को पूर्ण करने का दृढ संकल्प किया है। आप भी यहाँ आकर अविच्छिन्न वीर परम्परा के श्रमण बने और मैं भी यहीं पर उसी परम्परा में गिने जाने का श्रेय प्राप्त करूंगा। आप परमश्रद्धेय गणि मणिविजयजी से दीक्षित हुए और मैं आपश्री (बूटेरायजी) से दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त करूंगा।'' ये थे महाराजश्री आत्मारामजी के स्वागत विचार, जिन्हें वे शीघ्रातिशीघ्र आचरण में लाने के लिये समय की अनुकूलता की प्रतीक्षा कर रहे थे।

आपने अपने १५ साथी साधुओं को अपने विचारों से अवगत कराया। उन सब ने भी आपके विचारों का स्वागत किया और कहा कि ''हम लोगों के गुरु तो केवल आप ही हैं। इसीलिए हमारे मन में दूसरे को अपना गुरू बनाने का न तो कभी संकल्प हुआ है और न कभी होगा ही। आपश्री जिसके शिष्य होना चाहेंगे, वे भी हमारे वन्दनीय ही होंगे। जैसा आपका विचार है उससे हम सब सहमत हैं।''

दूसरे दिन सब साधुओं को साथ में लेकर श्रीआत्मारामजी ने पूज्य बूटेरायजी के स्थान की ओर प्रस्थान किया। बूटेरायजी को भी श्रावकों द्वारा समाचार मिल चुके थे। समाचार पाकर आप बहुत हर्षित हुए। इतने में आत्मारामजी अपने साथियों के साथ वहाँ जा पहुँचे। सब ने विधिपूर्वक आपको वन्दना की और आपने भी सब को सुखसाता पूछी।

मुनिश्री आत्मारामजी ने पूज्य बूटेरायजी से अपने मनोगत भावों को प्रगट किया। गुरुवर्य बूटेरायजी, गणि मूलचन्दजी आदि मुनिराजों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। उसी समय सुयोग्य ज्योतिषी को बुलाकर दीक्षाओं का मुहूर्त-निश्चय कर लिया गया। नगरसेठ प्रेमाभाई और सेठ दलपतभाई भी इस निर्णय को सुनकर बहुत हर्षित हुए। गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों में सर्वत्र यह समाचार बिजली की तरह फैल गये। मुनिश्री वृद्धिचन्दजी को जब यह समाचार मिले तो वह भी विहार कर इस मंगल प्रसंग में उपस्थित होने के लिए अहमदाबाद पधार गये। श्रीआत्मारामजी का संवेगी दीक्षा महोत्सव देखने के लिए बडी-बडी दूर से विहार कर बहुत मुनिराज अहमदाबाद पधार गए। बहुत-

बहुत दूर से श्रावक-श्राविकाएं भी इस महामहोत्सव को देखने के लिये भारी संख्या में अहमदाबाद आ पहुँचे ।

संवेगी दीक्षा ग्रहण

दीक्षा के लिये नियत किये गये दिन में अहमदाबाद के समस्त जैनसंघ के आगेवानों तथा अपार जनता के समक्ष शास्त्रविधि के अनुसार वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५, गुजराती सं० १९३१) के आषाढ मास में आपकी दीक्षा का कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न हुआ । गुरुदेव श्रीबुद्धिविजयजी ने श्रीआत्मारामजी के मस्तक पर वासक्षेप डालकर एक सुयोग्य प्रतिभावान शिष्य के गुरु बनने का श्रेय प्राप्त किया और महाराज श्रीआत्मारामजी ने श्रेष्ठ चारित्र-चूडामणि गुरुवर्य श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) के चरणों में आत्मसमर्पण करते हुए आदर्श गुरु को प्राप्त किया । इस प्रकार दोनों ही गुरु-शिष्य एक-दूसरे को पाकर अपने आपको भाग्यशाली मानने लगे । पूज्य आत्मारामजी के साथ आये हुए मुनि विश्नचन्दजी आदि १५ साधुओं ने इस शास्त्रीय दीक्षाविधि में श्रीआत्मारामजी के चरणों में आत्मसमर्पण करते हुए अपनी चिराभिलषित अंतरंग श्रद्धा का परिचय दिया अर्थात् आत्मारामजी को अपना गुरु धारण किया ।

मार्मिक उपदेश

आज का यही दीक्षा समारोह भारतीय जैन प्रजा और विशेष रूप से पंजाब की जैन प्रजा के लिये शुभ सूचनारूप था । जैनधर्म की तपागच्छ परम्परा के सत्यवीर, सद्धर्मसंरक्षक, परमयोगीराज, बालब्रह्मचारी, तपस्वी, शांतस्वभावी, आदर्शत्यागी, संयमी, चारित्रचूडामणि, आदर्श सद्गुरु वयोवृद्ध श्रीबुद्धिविजय

(बूटेरायजी) ने मुनिराजों को दीक्षा का वासक्षेप देने के बाद मुनिश्री आत्मारामजी को संबोधित करते हुए कहा – "प्रिय आन्दविजय ! तुम्हारी विद्वत्ता, योग्यता और धर्मनिष्ठा पर जैनसंघ जितना भी गौरव माने कम है । तुमने पंजाब देश में जिस सत्यधर्म के पुनरुद्धार करने का बीडा उठाया है; जिस धार्मिक क्रांति का बिगुल बजाया है, उससे मेरी आत्मा को बहुत संतोष मिला है । वहाँ अन्यलिंगी लुंकामतियों के प्रसार के प्रभाव से श्रीमहावीर प्रभु के शासन की जो हानि और अवहेलना हो रही है; उसका स्मरण होते ही हृदय काँप उठता है । परन्तु अब वह समय आ गया है कि तुम्हारे जैसे प्रभावशाली क्षत्रीय नरवीर पुरुष के द्वारा वहाँ शाश्वत जैनधर्म को फिर से असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त होगी । मैं वृद्ध हो चूका हूँ । पंजाब में पुनः जाने की उत्कट भावना होते हुए भी जंघाबल काम नहीं दे रहा । मैंने जो वहाँ कार्यप्रारम्भ किया हुआ है, तुमने अब उसे पूर्ण वेग से पूर्ण करना है । स्थान-स्थान पर गगनचुम्बी विशाल जिनमंदिरों पर लहरानेवाली ध्वजाएं इस शाश्वत प्राचीन-धर्म के वैभव को प्रमाणित करें, इसके लिये तुम लोग अब पहले से भी अधिक उत्साह और परिश्रम से वहाँ धार्मिक जाग्रति फैलाने का प्रयत्न करो ताकि मैं अपने जीवन में ही यह सब देख-सुन सकूं । तुम्हारी सत्यनिष्ठा और आत्मविश्वास तुम्हारी सफलता के लिये पर्याप्त हैं । जिस पर मेरा आशीर्वाद तुम्हें सोने पर सुहागे का काम देगा । जाओ पंजाब को संभालो, तुम्हारा कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है । अन्यलिंगी लुंकामतियों द्वारा घोर विरोध का सामना करने के लिये तुम्हारे जैसे क्षत्रीयवीर सेनानी के सिवाय अन्य को सफलता मिलनी कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है । मेरी शुभकामनाएं सदा तुम्हारे साथ हैं ।"

महाराजश्री बुद्धिविजयजी के मर्मस्पर्शी सदुपदेश से श्रीआनन्दविजय (आत्मारामजी) तथा उनके साथी १५ शिष्य-प्रशिष्यों के हृदय उत्साह और हर्ष से भरपूर हो गये । श्रीआत्मारामजी ने गुरुदेव के चरणस्पर्श करते हुए कहा - "गुरुदेव ! आपश्री निश्चिंत रहें । आपके आशीर्वाद से सब ठीक होगा । कहा भी तो है "हिम्मते मर्दा मददे खुदा" अर्थात् पुरुष के पुरुषार्थ करने पर प्रकृति उसकी अवश्य सहायता करती है । पुरुषार्थी के हर कार्य में प्रभु सदा सहायक होते हैं । जब आपश्री सद्गुरुदेव का आशीर्वाद सदा हमलोगों के साथ है, तो फिर सब कार्यों में हमें अवश्य सफलता मिलेगी । इसमें सन्देह नहीं है ।"

पूज्य गुरुदेव बुद्धिविजय (बूटेरायजी) महाराज ने दीक्षित मुनियों के नाम बदलकर नीचे लिखे नामों से संबोधित किया और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इस प्रकार से स्थापित किया ।

	लुंकामती नाम	संवेगी नाम	गुरु का नाम
[१]	श्रीआत्मारामजी	श्रीआनन्दविजयजी	श्रीबुद्धिविजयजी
[२]	श्रीविश्नचन्दजी	श्रीलक्ष्मीविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[३]	श्रीचम्पालालजी	श्रीकुमुदविजयजी	श्रीलक्ष्मीविजयजी
[४]	श्रीहुकुमचन्दजी	श्रीरंगविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[५]	श्रीसलामतरायजी	श्रीचारित्रविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[६]	श्रीहाकमरायजी	श्रीरतनविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[७]	श्रीखूबचन्दजी	श्रीसंतोषविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[८]	श्रीकन्हैयालालजी	श्रीकुशलविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[९]	श्रीतुलसीरामजी	श्रीप्रमोदविजयजी	श्रीआनन्दविजयजी
[१०]	श्रीकल्याणचन्दजी	श्रीकल्याणविजयजी	श्रीचारित्रविजयजी

[११]	श्रीनिहालचन्दजी	श्रीहर्षविजयजी	श्रीलक्ष्मीविजयजी
[१२]	श्रीनिधानमलजी	श्रीहीरविजयजी	श्रीकुमुदविजयजी
[१३]	श्रीरामलालजी	श्रीकमलविजयजी	श्रीलक्ष्मीविजयजी
[१४]	श्रीधर्मचन्दजी	श्रीअमृतविजयजी	श्रीरतनविजयजी
[१५]	श्रीप्रभुदयालजी	श्रीचन्द्रविजयजी	श्रीरंगविजयजी
[१६]	श्रीरामजीलालजी	श्रीरामविजयजी	श्रीमोहनविजयजी

इस प्रकार बडीदीक्षा महोत्सव सोलह मुनियों का हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ । वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) चतुर्मास गुरुवर्य बुद्धिविजयजी के साथ गणिश्री मूलचन्दजी, मुनिश्री वृद्धिचन्दजी, मुनिश्री आनन्दविजयजी (आत्मारामजी) तथा अन्य गुरुभाइयों ने अपने-अपने शिष्य-परिवार के साथ अहमदाबाद में ही किया । आपका श्रीआनन्दविजयजी नाम हो जाने पर भी आप अपने पुराने 'आत्मारामजी' के नाम से प्रसिद्धि पाये ।

आप सब मुनिराजों ने शुद्ध चारित्र-धारण और पालक की पहचान के लिये पीली चादर को भी धारण किया ।

चतुर्मास में प्रतिदिन मुनिश्री आनन्दविजय (आत्मारामजी) का आवश्यक-सूत्र पर आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि कृत व्याख्या-सहित व्याख्यान होने लगा । आपश्री की आकर्षक व्याख्यान शैली से प्रभावित होकर इतनी जनता आने लगी कि विशाल व्याख्यान होल में तिल धरने की जगह भी खाली नहीं रहती थी । परन्तु शांतिसागर के व्याख्यान में इने-गिने व्यक्तियों के सिवाय कोई न जाता था । इससे शांतिसागर के मन में ईर्षा की अग्नि ने भयंकर रूप धारण कर लिया । आपकी संवेगी दीक्षा से पहले भी यह शांतिसागर

आपके साथ शास्त्रार्थ में करारी हार खा चुका था। अब उसके मन में बदला लेने की प्रबल भावना हो गई।

एक दिन शांतिसागर गुरुदेवश्री बूटेरायजी के पास आया और कहने लगा कि ''महाराज ! मैं आपके शिष्य आनन्दविजय के साथ व्याख्यान-सभा में धर्म-चर्चा करना चाहता हूँ। इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आप मेरा उनसे शास्त्रार्थ कराइये। मैं आप से यह भी चाहता हूँ कि हम दोनों के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ आपश्री ही बनें।''

शांतिसागरजी ने ऐसा निश्चय क्यों किया था ? ऐसा निश्चय करने का कारण यह था कि ''पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी महाराज अब वाद-विवाद में पडना नहीं चाहते थे। क्योंकि आप अन्य सब प्रवृत्तियों को छोडकर सारा समय ज्ञान, ध्यान, आत्मचिंतन में ही तल्लीन रहते थे। उसने सोचा कि आप मध्यस्थता स्वीकार करने के लिये कदापि मानेंगे नहीं। आपके इन्कार कर देने पर मुझे (शांतिसागर को) ऐसा कहने का अवसर मिल जावेगा कि मैं तो आत्मारामजी से शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ और इसी उद्देश्य से उन्हीं के गुरु श्रीबुद्धिविजयजी के पास गया था तथा उन्हीं को मध्यस्थ बनने का अनुरोध भी किया था किन्तु वे माने ही नहीं। इससे तो यही फलित होता है कि उनमें शास्त्रार्थ करने की योग्यता और शक्ति ही नहीं हैं। इसलिये मेरे सत्य-विचारों का प्रतिवाद करना उनके सामर्थ्य की बात नहीं है। इस प्रकार पहले शास्त्रार्थ में खोई हुई मान-प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो जाने से मेरे मत-पंथ को प्रचार तथा प्रसार पाने में अनायास ही सफलता पाने का अवसर प्राप्त होगा।''

श्रीबुद्धिविजयजी ने शांतिसागर को उत्तर दिया कि "न भाई ! मैं तो किसी भी वाद-विवाद में नहीं पडता और न मुझे इस प्रकार का वाद-विवाद पसंद ही है। इसलिये तुम दोनों ही आपस में निपट लो। मुझे बीच में लाने की आवश्यकता नहीं है।" जब इस बात का पता आत्मारामजी को लगा और उन्होंने सारी परिस्थिति का पूरा अध्ययन किया, तब शांतिसागर के अंतरंग आशय को भाँप लिया। आप उनके सब मनोरथों को विफल बनाने के लिये अपने गुरु-महाराजजी से बोले- "गुरुदेव ! आपश्री इससे पीछे क्यों हटते हैं। यदि श्रीशांतिसागरजी की यही इच्छा है तो उसे पूरी होने दीजिये। आप सभा में पधारें, आपके एक तरफ मैं बैठूंगा, दूसरी तरफ श्रीशांतिसागरजी बैठेंगे। प्रथम लगातार तीन दिन तक शांतिसागरजी का भाषण हो और बाद में तीन दिन मैं कहूँगा। दोनों के कथन को सभा में उपस्थित सब श्रोता लोग सुनेंगे और सुनकर स्वयं निर्णय कर लेंगे। ऐसी व्यवस्था में आप को क्या आपत्ति है ?"

श्रीबुद्धिविजयजी - "कुछ भी नहीं।"

श्रीआत्मारामजी - "तब आप श्रीशांतिसागरजी को बुलाकर दो-चार मुख्य श्रावकों के सामने उनसे वार्तालाप करके चर्चा के लिये दिन का निश्चय कर लें।"

इसके उत्तर में 'बहुत अच्छा' कहकर सद्‌गुरुदेव श्रीबूटेरायजी ने शांतिसागरजी को बुलाकर उनसे बातचीत करके शास्त्रार्थ के लिये दिन और समय आदि का निश्चय कर लिया।

श्रीशांतिसागर से पुनः शास्त्रार्थ

निश्चित हुए दिन में समय से पहले ही जनता से व्याख्यान सभा का स्थान खचाखच भर गया था। गुरुदेव बुद्धिविजयजी के

साथ श्रीआत्मारामजी सब गुरुभाइयों और शिष्य-परिवार के साथ पधारे, उधर से श्रीशांतिसागर भी अपने कतिपय अनुयायियों के साथ व्याख्यान-सभा में आ पहुँचे । शांतिपूर्वक सब के बैठ जाने पर श्रीशांतिसागरजी ने अपना भाषण प्रारम्भ किया जो कि बराबर घंटा-सवा घंटा तक चालू रहा । इस प्रकार तीन दिन के व्याख्यान में आपने अपने एकान्त निश्चयवाद को सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया । आपके कथन का सार मात्र इतना ही था कि आजकल कोई भी व्यक्ति शास्त्र में लिखे मुताबिक साधु और श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता । इसलिये न कोई यथार्थ रूप में साधु है और न श्रावक । तीन दिन के बाद मुनि श्रीआनन्दविजय (आत्मारामजी) की बारी आयी । तब आपने श्रीशांतिसागरजी के मन्तव्य को शास्त्र-विरुद्ध ठहराते हुए कहा कि एकान्त निश्चय और एकान्त व्यवहार ये दोनों ही मन्तव्य शास्त्रबाह्य होने से त्याज्य हैं । जैन सिद्धान्त में निश्चय और व्यवहार दोनों को ही सापेक्ष स्थान प्राप्त है । इस लिये केवल निश्चय को मानकर व्यवहार का अपलाप करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है । इस मान्यता में एकान्तवाद का समर्थन होने से यह सम्यग्दर्शन का बाधक और मिथ्यात्व का पोषक हो जाता है । इसके अतिरिक्त श्रीशांतिसागरजी ने जो यह कहा है कि आजकल कोई भी शास्त्र में लिखे मुताबिक साधु-धर्म और श्रावक-धर्म को नहीं पाल सकता, यह भी ठीक नहीं है । आज भी शास्त्रानुसार निश्चय और व्यवहार, उत्सर्ग और अपवाद को लेकर समयानुसार साधुधर्म का पालन किया जा सकता है । जिस कोरे आध्यात्मवाद की प्ररूपणा करते हुए उन्होंने साधु-धर्म का स्वरूप बतलाया है, उसके अनुसार यदि वह स्वयं चलकर दिखलावें,

तो मैं उनका शिष्य बनने को तैयार हूँ। अन्यथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद के आश्रित इस समय जैसा साधुधर्म पालना चाहिये वैसा मैं पालकर दिखलाता हूँ और यथाशक्ति नियमानुसार अब भी पाल रहा हूँ। यदि शांतिसागरजी के कथनानुसार साधुता का अभाव मान लिया जावे तो श्रीभगवतीसूत्र में भगवान के शासन को २१००० वर्ष तक चलते रहने का जो उल्लेख है उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? अभी तो २५०० वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये। इसलिये ऐसा कहना भगवान के कथन का अपलाप करना है। अतः शास्त्रानुसार स्वयं आचरण करना और दूसरों को आचरण करने के लिये उपदेश देना तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण से हटना – यही साधुजीवन का आदर्श है और होना भी यही चाहिये।

महाराजश्री आत्मारामजी के प्रवचन से जनता बहुत प्रभावित हुई। उसके हृदय से शांतिसागर का रहा-सहा प्रभाव भी जाता रहा। वह जिस पर्दे की ओट में भोले जीवों को मायाजाल में फँसाता था, अन्त में वह दम्भपूर्ण साधुता का पर्दा आत्मारामजी के सत्यपूर्ण प्रवचनास्त्र के प्रभाव के प्रहार से कट गया और शांतिसागरजी अपने असली स्वरूप में नग्न रूप में जनता को दीख पडने लगे। इसके बाद शांतिसागर ने साधुवेष को छोडकर एक धनिक स्त्री की दी हुई हवेली में निवास करना प्रारम्भ कर दिया। गृहस्थ के वेष में आने के बाद उसके ढोंग का भंडाफोड हो गया।

चतुर्मास समाप्त होने के बाद अहमदाबाद से आपने अपने शिष्य-परिवार के साथ विहार किया। श्रीसिद्धाचलजी, गिरनारजी की यात्रा कर वि० सं० १९३३ (ई० स० १८७६) का चतुर्मास आपने अपने गुरुभाई वृद्धिचन्दजी के साथ भावनगर में किया।

पूज्य गुरुदेव बूटेरायजी ने गणि मूलचन्दजी के साथ यह चतुर्मास अहमदाबाद में किया ।

पूज्य आत्मारामजी महाराज ने गत चतुर्मास में गुरुदेव बूटेरायजी महाराज से बम्बई जाने की आज्ञा मांगी थी । तब गुरुदेव ने जवाब दिया कि "जिसको संयम की खप हो उसे बम्बई नहीं जाना चाहिये ।" यह जानकर आपने बम्बई जाने का विचार छोड दिया और पुनः पालीताना की तरफ विहार किया । अतः आप अपने जीवनकाल में कभी भी बम्बई नहीं गये ।

चतुर्मास समाप्त होने के बाद महाराजश्री आत्मारामजी अपने शिष्य-परिवार के साथ वोहरा अमरचन्द जसराज झवेरचन्द की तरफ से छ'री पालते संघ के साथ संघपति की विनती को स्वीकार करके तीर्थयात्रा के लिये पधारे । तलाजा, दाठा, महुआ, दीव, प्रभास-पाटन, वेरावल, मांगरोल आदि स्थानों में देव-दर्शन करते हुए जूनागढ में गिरनार तीर्थ की यात्रा की । वहाँ से सिद्धाचलजी की यात्रा कर संघ के साथ आप पुनः भावनगर पधारे ।

यहाँ से आपने पंजाब की तरफ विहार कर दिया । और वि० सं० १९३४ (ई० स० १८७७) का चौमासा जोधपुर में करके वि० स० १९३५ (ई० स० १८७८) का चौमासा लुधियाना (पंजाब) में जाकर किया ।

पूज्य बूटेरायजी का स्वर्गवास

पूज्य बूटेरायजी की आयु इस समय ७० वर्ष की हो चुकी थी । आप अपना सारा समय तपस्या और ज्ञान-ध्यान में ही व्यतीत करने लगे । आपने अब अहमदाबाद में सेठ दलपतभाई भगुभाई के वंडे

में एक अलग एकांत कमरे में ही जीवन की अन्तिम घडियां तक निवास किया। गणिश्री मूलचन्दजी महाराज भी आपकी वैयावच्च के लिये अहमदाबाद में ही रहे। आदर्श गुरु पूज्य बूटेरायजी तथा आदर्श गुरुभक्त शिष्य गणि मूलचन्दजी की जोडी प्रकृति ने प्रदान की थी। इन दोनों गुरु-शिष्यने वि० सं० १९३४ से १९३८ (ई० स० १८७७ से १८८१) तक पांच चौमासे अहमदाबाद में ही किये।

वि०सं० १९३६ (गुजराती सं० १९३५) आसोज सुदि को आपके गुरु गणि मणिविजयजी का अहमदाबाद में स्वर्गवास हो गया।

और मात्र १५ दिन की अल्प बीमारी के बाद वि० सं० १९३८ चैत्र वदि अमावस्या (गुजराती फागण वदि अमावस्या) को रात्री के समय समाधिपूर्वक आप का भी स्वर्गवास अहमदाबाद में हो गया। चैत्र सुदि १ को आपके नश्वर शरीर का साबरमती नदी के किनारे पर चन्दन की चिता में दाहसंस्कार कर दिया गया। स्वर्गवास के समय आप की आयु ७५ वर्ष की थी। गृहवास २५ वर्ष, दीक्षा पर्याय ५० वर्ष। जन्म वि० सं० १८६३, स्थानकमार्गी दीक्षा वि० सं० १८८८, संवेगी दीक्षा वि० सं० १९१२ में, तथा स्वर्गवास वि० सं० १९३८ अहमदाबाद में हुआ।

इस समय श्रीवृद्धिचन्दजी महाराज वला (सौराष्ट्र) में थे और श्रीआत्मारामजी महाराज पंजाब में थे। सद्धर्मसंरक्षक सत्यवीर गुरुदेव के स्वर्गवास हो जाने के समाचार सुनकर आपके सारे शिष्य-परिवार को भारी आघात लगा। गुजरांवाला आदि क्षेत्रों को जिन्हें आपश्री ने अपने सदुपदेश से सद्धर्म की प्राप्ति कराई थी; आपश्री के स्वर्गवास के समाचारों को पाकर उन्हें भी भारी दुःख हुआ। वि० सं० १९३७ का सर्वप्रथम चौमासा गुजरांवाला में

आत्मारामजी ने किया । इससे पहले इन क्षेत्रों में पूज्य बूटेरायजी महाराज के पहले अथवा बाद में किसी भी संवेगी साधु ने विचरण नहीं किया था ।

सद्धर्मसंरक्षक श्रीबूटेरायजी महाराज से पहले

सिन्धु-सोवीर, गांधार, भद्र, त्रिगर्त (कांगडा), पंजाब देश में प्रथम तीर्थंकर श्रीआदिनाथ से लेकर मुगल-सम्राट शाहजहाँ तक बराबर अनेक तीर्थंकर और उनका श्रमण-श्रमणी संघ विचरण करते रहे । तेइसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ तथा चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी एवं उनके श्रमणसंघ भी विचरे । पूर्वधर आचार्यों, गीतार्थ मुनिराजों तथा पदवीधर मुनिराजों का आवागमन भी रहा । किन्तु विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में संवेगी श्वेताम्बर साधु-साध्वीयों की अति अल्प संख्या होने से उनका विहार इन प्रदेशों में न हो सका । इधर लुंकामती साधु-साध्वीयों के एकदम प्रसार तथा प्रचार से यहाँ जैन धर्म का ह्रास होने लगा । प्राचीन काल से ही देश-विदेश के आक्रमणकारियों ने सर्व प्रथम पंजाब में आक्रमण किये, यहाँ के स्मारकों का विध्वंस तथा संस्कृति का विनाश किया । अत्याचारी यवनों ने तथा अन्य सम्प्रदायों ने एवं जैनधर्म के विरोधि अन्यलिंगियों ने भी जैन तीर्थों, मंदिरों, जिनप्रतिमाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर नामशेष भी न रहने दिया और धन-सम्पति को लूटकर उन्हें मस्जिदों, बौद्ध-मन्दिरों तथा हिन्दु सम्प्रदाय के मन्दिरों के रूप में बदल दिया ।

मात्र इतना ही नहीं, जैनधर्म में ही जिनप्रतिमा-विरोधक सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी अनेक जैन मन्दिरों से श्रीतीर्थंकर

देवों की प्रतिमाओं का उत्थापन कर स्थानकरूप में बदल कर उन प्रतिमाओं को न जाने कहाँ लेजाकर समाप्त कर दिया ? इस प्रकार अनेक प्रकार की क्षतियों से ग्रसित पंजाब देश में पूज्य बूटेरायजी से पहले के जो जिनमन्दिर बच पाये थे उनका विवरण यहाँ देते हैं।

सद्धर्मसंरक्षक से पहले समय के जिनमंदिर[१]

	नगर	विवरण	परिवर्तन
x (१)	गुजरांवाला	श्रीऋषभदेव का मंदिर	मूर्तियाँ श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ के मन्दिर में विराजमान की गयी।
x (२)	स्यालकोट	श्रीपार्श्वनाथ का और शांतिनाथ का मंदिर	मूर्तियाँ उत्थापन करके स्थानक बना लिया गया।
(३)	अमृतसर	वि०सं० १६५० में यहां के जैन मन्दिर का श्रीसमयसुन्दरजी ने अपने स्तवन में वर्णन किया है।	यह मंदिर नहीं था। उसके बाद में श्रीशीतलनाथजी का मंदिर विद्यमान था।
(४)	जंडियाला गुरू	श्रीपार्श्वनाथजी का मंदिर	विद्यमान है।
(५)	वेरोवाल	श्रीविमलनाथजी का मंदिर	विद्यमान है।

१. यह चरित्र लिखते समय (वर्तमान में) अनेक नगरों में नये जिनमंदिरों का निर्माण हो चुका है। अनेक स्थानों में पुराने जिनमंदिर नहीं हैं। अतः यह सूचि पूज्य बूटेरायजी से पहले के विद्यमान मंदिरों की मात्र है।

नोट– (x) निशानवाले नगर वि० सं० २००४ (ई० स० १९४७) में पाकिस्तान में चले गये हैं।

	नगर	विवरण	परिवर्तन
(६)	पट्टी	श्रीविमलनाथजी का मंदिर	विद्यमान है।
(७)	काँगडा (जालंधर प्रदेश)	मंत्री पेथड शाह ने विक्रम की १३वीं शताब्दी में यहाँ जिन मंदिर का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक मंदिर थे।	इनमें से अब कोई भी मंदिर नहीं है। मात्र एक प्रतिमा श्रीऋषभनाथजी की है, जो यहाँ के किले में विराजमान है।
(८)	फगवाडा	श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर	स्थानक में परिवर्तित हो चुका है।
(९)	लुधियाना	श्री पार्श्वनाथजी का मंदिर	विद्यमान है।
(१०)	फरीदकोट	एक जिन मंदिर था।	आज से लगभग २० वर्ष पहले यहाँ से प्रतिमाएं उत्थापन करके स्थानक बना लिया गया है।
x (११)	लाहौर	अनेक मंदिर थे। एक मंदिर की वि० सं० १६५२ में श्रावक सिंहराज मूलराज ने मुनिश्री हेमविमलजी से प्रतिष्ठा कराकर एक जिनप्रतिमा विराजमान की थी।	इनमें से अब एक भी मंदिर नहीं था। पश्चात् एक मंदिर निर्माण हुआ है। जो विद्यमान है।

नगर	विवरण	परिवर्तन
(१२) नकोदर	श्रीधर्मनाथ जिन मंदिर	विद्यमान है।
(१३) जगरावां	एक जिन मंदिर था।	यहाँ की प्रतिमायें लुधियाना के मंदिर में आ गई है।
(१४) बंगिया	श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर	अब नहीं है।
(१५) नादौन	जिनमंदिर था।	अब नहीं है।
(१६) गोपीपुर	श्रीमहावीर मंदिर	अब नहीं है।
(१७) कोठरी गांव	श्रीपार्श्वनाथ मंदिर	अब नहीं है।
(१८) कोठीपुर	श्रीमहावीर मंदिर	अब नहीं है।
(१९) मालेरकोटला	श्रीपार्श्वनाथ मंदिर	विद्यमान है।
(२०) होशियारपुर	श्रीपार्श्वनाथ मंदिर	विद्यमान है।
x (२१) कालाबाग	श्रीअभिनन्दननाथ का मंदिर	विद्यमान है।
x (२२) लतम्बर	श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर	विद्यमान है।
x (२३) भेरा	श्रीचन्द्रप्रभु का मंदिर	विद्यमान है।
x (२४) डेरागाजिखाँ	श्रीऋषभदेव का मंदिर	विद्यमान है।
(२५) मयानी	श्रीशांतिनाथ मंदिर	विद्यमान है।
x (२६) लाहौर के किले में	श्रीजिनमंदिर	इसकी प्रतिमा विद्यमान है।
(२७) राहों	श्रीपार्श्वनाथ का मंदिर	स्थानक में परिवर्तन हो चुका है।
(२८) श्रीहस्तिनापुर	अनेक अति प्राचीन जिन मंदिर और स्तूप थे।	मात्र एक जिन मंदिर तथा एक स्तूप है।
x (२९) पिंडदादनखाँ	श्रीसुमतिनाथ का मंदिर	जीर्णोद्धार होकर श्रीबूटेरायजी द्वारा पुनः प्रतिष्ठा।

पंजाब में श्री बूटेरायजी द्वारा प्रतिष्ठित जिनमंदिर[१]

	नगर	मूलनायक का नाम	प्रतिष्ठा समय
(१)	बडाकोट साबरवान	नीचे के कमरे में गुरु-नानक की, ऊपर के चौबारे में जिनप्रतिमा	वि० सं० १९१८
(२)	गुजराँवाला	श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ	वि० सं० १९२० वैशाख वदि-१३
(३)	पपनाखा	श्रीसुविधिनाथ	वि० सं० १९२२ आसोज सुदि-१०
(४)	किला-दीदारसिंह	श्रीवासुपूज्य (क्षेत्रपाल प्रत्यक्ष)	वि० सं० १९२३ वैशाख वदि-३
(५)	किला-सोभासिंह	श्रीशीतलनाथ	वि० सं० १९२४
(६)	रामनगर	श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ (अत्यन्त चमत्कारी)	वि० सं० १९२४ वैसाख वदि-७
(७)	पिंडदादनखाँ	श्रीसुमतिनाथ (प्राचीन जिनमंदिर)	वि० सं० १९२६ वैशाख सुदि-६ जीर्णोद्धार तथा प्रतिष्ठा
(८)	जम्मूतवी	श्रीमहावीरस्वामी	प्रतिष्ठा सं० पता नही।

श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) सात गुरुभाई

(१) मुनिश्री अमृतविजयजी, (२) मुनिश्री बुद्धिविजयजी (बूटेरायजी), (३) मुनिश्री प्रेमविजयजी, (४) मुनिश्री गुलाब-

१. ई० स० १९४७ (वि० सं० २००४) में पाकिस्तान बन जाने पर नं० २ गुजरांवाला से नं० ७ पिंडदादनखाँ तक छह नगर पाकिस्तान में चले जाने से वहाँ के मंदिरों के विषय में मालूम नहीं है कि वे सुरक्षित हैं अथवा नहीं।

विजयजी, (५) मुनिश्री सोमविजयजी, (६) मुनिश्री सिद्ध(सिद्धि)-विजयजी, (७) मुनिश्री हीरविजयजी ।

मुनिश्री बुद्धिविजयजी के नाम

(१) जन्मनाम – टलसिंह (२) प्रसिद्धनाम – दलसिंह (३) बूटासिंह (४) लुंकागच्छीय स्थानकवासी दीक्षानाम – ऋषि बूटेरायजी (५) संवेगी दीक्षानाम – मुनिश्री बुद्धिविजयजी ।

गुरुदेव बुद्धिविजयजी के मुख्य सात शिष्यों के नाम

(१) गणिश्री मुक्तिविजयजी (मूलचन्दजी), (२) मुनिश्री वृद्धिविजयजी (वृद्धिचन्दजी), (३) मुनिश्री नित्य(नीति)विजयजी, (४) मुनिश्री आनन्दविजयजी, (५) मुनिश्री मोतीविजयजी, (६) मुनिश्री तपस्वी खांतिविजयजी, (७) श्रीविजयानन्दसूरीश्वर (आत्मारामजी) महाराज । आप लोग सप्तर्षि के नाम से प्रसिद्ध थे ।

मुनिश्री बुद्धिविजयजी का संक्षिप्त परिचय

वि० सं० १८६३ में दुलूआ गांव में जन्म । आठ वर्ष की आयु में पिता का स्वर्गवास, पश्चात् अपनी माताजी के साथ बडाकोट साबरवान में निवास । १६ वर्ष की आयु में वैराग्य । २५ वर्ष की आयु में दिल्ली में वि० सं० १८८८ में नागरमल्लजी से लुंकामत–स्थानकवासी पंथ की दीक्षा । वि० सं० १८६५ में इस मत की असारता का बोध । वि० सं० १८६७ में श्रीमहावीर प्रभु के शुद्ध सत्यधर्म का प्रचार प्रारंभ । वि० सं० १९०३ में मुँहपत्ती का डोरा तोडा । वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में संवेगी दीक्षा । वि० सं० १९३८ में अहमदाबाद में स्वर्गवास ।

संसारी अवस्था २५ वर्ष, लुंकामती स्थानकमार्गी ऋषि २४ वर्ष, संवेगी मुनि २६ वर्ष, कुल आयु ७५ वर्ष।

सत्यवीर गुरुदेव के चौमासे कहाँ और कब हुए

वि० सं० १८८८ में बाईसटोले (स्थानकवासी) संप्रदाय के साधु नागरमल्ल ऋषि से दिल्ली में दीक्षा लेकर साधु बने। नाम – ऋषि बूटेरायजी।

स्थानकमार्गी अवस्था में चौमासे

संख्या	वि०सं०	नगर	विशेष
(१)	१८८८	दिल्ली	नागरमल्ल के साथ
(२)	१८८९	दिल्ली	नागरमल्ल के साथ
(३)	१८९०	दिल्ली	नागरमल्ल के साथ
(४)	१८९१	जोधपुर	तेरापंथी साधु जीतमल के साथ
(५)	१८९२	दिल्ली	नागरमल्ल के साथ
(६)	१८९३	दिल्ली	नागरमल्ल स्वर्गवास
(७)	१८९४	पटियाला	
(८)	१८९५	दिल्ली	विचारों में जिज्ञासा
(९)	१८९६	अमृतसर	कठोर तप
(१०)	१८९७	गुजरांवाला	कर्मचन्द दूगड से चर्चा तथा संघ को प्रतिबोध
(११)	१८९८	गुजरांवाला	पपनाखा तथा किलादीदारसिंह के संघो को प्रतिबोध
(१२)	१८९९	रामनगर	मानकचंद गद्दिया तथा संघ को प्रतिबोध

(१३)	१९००	पसरूर	मूलचन्द-प्रतिबोध
(१४)	१९०१	रामनगर	मोहनलाल-प्रतिबोध
(१५)	१९०२	गुजरांवाला	मूलचन्द-दीक्षा
(१६)	१९९३	रामनगर	चौमासे उठे रास्ते में गुरु-शिष्यने मुँहपत्ती का धागा तोडा
(१७)	१९०४	बामनोली	
(१८)	१९०५	रामनगर	वृद्धिचन्द-प्रतिबोध
(१९)	१९०६	दिल्ली	श्रीहस्तिनापुर-यात्रा
(२०)	१९०७	पिंडदादनखाँ	
(२१)	१९०८	दिल्ली	वृद्धिचन्द की दीक्षा
(२२)	१९०९	जयपुर	चार शिष्यों के साथ
(२३)	१९१०	बीकानेर	केसरियानाथ-यात्रा
(२४)	१९११	भावनगर	उपा० यशोविजयजी आदि के ग्रन्थों का अभ्यास

संवेगी अवस्था में चौमासे

संख्या	**वि०सं०**	**नगर**	**विशेष**
(१)	१९१२	अहमदाबाद	संवेगी दीक्षा
(२)	१९१३	अहमदाबाद	
(३)	१९१४	अहमदाबाद	पुण्यविजय के साथ
(४)	१९१५	भावनगर	
(५)	१९१६	अहमदाबाद	
(६)	१९१७	पाली	
(७)	१९१८	दिल्ली	पश्चात् अपने गांव में मंदिर-स्थापना

(८)	१९१९	गुजरांवाला	पश्चात् श्रीमंदिर-प्रतिष्ठा
(९)	१९२०	रामनगर	पश्चात् श्रीहस्तिनापुर-यात्रा
(१०)	१९२१	दिल्ली	
(११)	१९२२	पपनाखा	मंदिर-प्रतिष्ठा
(१२)	१९२३	गुजरांवाला	
(१३)	१९२४	रामनगर	मंदिर-प्रतिष्ठा
(१४)	१९२५	पिंडदादनखाँ	मंदिर-प्रतिष्ठा
(१५)	१९२६	गुजरांवाला	
(१६)	१९२७	बीकानेर	
(१७)	१९२८	अहमदाबाद	पंजाब से वापसी
(१८)	१९२९	अहमदाबाद	मुँहपत्ती-चर्चा
(१९)	१९३०	पालीताना	
(२०)	१९३१	भावनगर	
(२१)	१९३२	अहमदाबाद	श्रीआत्मारामजी आदि १६ की संवेगी दीक्षा
(२२)	१९३३	अहमदाबाद	
(२३)	१९३४	अहमदाबाद	
(२४)	१९३५	अहमदाबाद	
(२५)	१९३६	अहमदाबाद	
(२६)	१९३७	अहमदाबाद	

१९३८ अहमदाबाद में स्वर्गवास चैत्र वदि ३०, गुज० फा० वदि ३०

चतुर्मास विवरण =	पंजाब	दिल्ली	राज.	गुजरात	सौराष्ट्र	उ. प्रदेश	कुल संख्या
	१८	१०	५	१२	४	१	५०

श्रीबुद्धिविजयजी महाराज के शिष्य

गणिश्री मूलचन्दजी की परम्परा में मुनि दर्शनविजय (त्रिपुटी) ने (१) 'तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष' नामक पुस्तक के चरित्र विभाग में पृष्ठ १९ में लिखा है कि पूज्य बुद्धिविजयजी महाराज के पैंतीस शिष्य थे । परन्तु इसी पुस्तक के वंशवृक्ष विभाग के पृष्ठ १० में जहाँ बुद्धिविजयजी महाराज का वंशवृक्ष चार्ट दिया है वहाँ मात्र सात नामों का ही उल्लेख किया है तथा (२) इन्हीं दर्शनविजयजी ने श्रीमूलचन्दजी (गणि मुक्तिविजय) का जीवनचरित्र 'आदर्श गच्छाधिराज' के नाम से लिखा है उसके पृष्ठ ७२ पर 'सप्तर्षि' शीर्षक में भी लिखा है कि श्रीबुद्धिविजयजी के सात शिष्य थे और इन्हीं सातों का ही अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया है । (३) पूज्य आत्मारामजी (विजयानन्दसूरि) के पट्टधर आचार्य विजयवल्लभ-सूरिजी के शिष्य मुनि शिवविजयजी ने श्रीतपगच्छ–पट्टावली में बारह शिष्यों के नाम लिखे हैं ।

(४) पूज्य बूटेरायजी महाराज ने अपनी आत्मकथा (मुखपत्ती–चर्चा नामक पुस्तक) में अपना अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण परिचय दिया है । आप प्रायः कहा करते थे कि **'बूटा अपने विषय में क्या कहे, अपने लिये कुछ कहना अपने मुँह मियां-मिट्ठु बनना उचित नहीं है ।'** फिर भी उस समय की समकालीन सामग्री से जो कुछ मालूम हो सका है, उसी के आधार पर जितने शिष्यों का पता लग पाया है उनका विवरण इस प्रकार है —

x १. एक जाट ने दीक्षा ली, थोडे वर्षों बाद मर गया । (श्रीबूटेरायजी ने इसका नाम नहीं लिखा)

x २. एक बनिये ने दीक्षा ली । बाद में वह दीक्षा छोड गया ।

x ३-४. **नारायण** ऋषि तथा उसका एक साथी अन्त तक लुंकामती-स्थानकवासी रहे।

५. वि० सं० १९०२ में **प्रेमचन्द** ने लुंकामत की दीक्षा ली। वि० सं० १९११ तक आपके साथ रहा। इसी संवत में गिरनार में स्वर्गवास। (संवेगी दीक्षा ग्रहण नहीं की)

x ६. वि० सं० १९०८ में दिल्ली में वृद्धिचन्द के साथ जीवन नामक एक पंजाबी अरोडे ने दीक्षा ली। नाम **आनन्दचन्द** रखा। गुजरात जाते हुए रास्ते में दीक्षा छोड गया।

x ७. **धर्मचन्द** ने स्थानकवासी दीक्षा ली। बाद में दूसरे स्थानकवासी साधुओं से जा मिला।

८. वि० सं० १९०२ में मूलचन्द बीसा ओसवाल बरड गोत्रीय स्यालकोट पंजाब निवासी ने गुजरांवाला में दीक्षा ली। वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में आपके साथ संवेगी दीक्षा ली। नाम श्री**मुक्तिविजयजी** हुआ।

९. वि०सं० १९०८ में कृपाराम बीसा ओसवाल गद्दिया गोत्रीय रामनगर निवासी ने दिल्ली में दीक्षा ली। नाम ऋषि वृद्धिचन्द रखा। वि० सं० १९१२ में आपके साथ अहमदाबाद में संवेगी दीक्षा ली। नाम **श्रीवृद्धिविजयजी** हुआ।

१०. वि० सं० १९१३ में सूरत के सेठ नगीनदास के पुत्र ने संवेगी दीक्षा ली। नाम **नित्यविजयजी**। आप नीति-स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

११. वि० सं० १९१३ में एक श्रावक ने संवेगी दीक्षा ली। नाम **पुण्यविजयजी** रखा।

१२. वि० सं० १९१५ में एक श्रावक ने संवेगी दीक्षा ली। नाम **भावविजयजी** रखा।

x १३. वि० सं० १९२३ में एक ने संवेगी दीक्षा ली। नाम **विवेकविजयजी** रखा। बाद में दीक्षा छोडकर यति हो गया। यति होने पर इसने अपना नाम **भगवानविजय** रख लिया।

१४. वि० सं० १९२४ में एक श्रावक ने संवेगी दीक्षा ली। नाम **रतनविजय** रखा।

१५. वि० सं० १९२४ में दो स्थानकमार्गी साधुओं ने संवेगी दीक्षा ली। ये दोनों आपस में गुरु-शिष्य थे। गुरु को आपने अपना शिष्य बना कर नाम **मोहनविजय** रखा। इसके शिष्य को भी संवेगी दीक्षा देकर मोहनविजय का शिष्य बनाया। नाम चन्दनविजय रखा।

१६-१७-१८. वि० सं० १९२२ में गुजरात में तीन श्रावकों को आपके नाम की दीक्षा देकर उन तीनों के नाम क्रमशः **मोतीविजय, भक्तिविजय** तथा **दर्शनविजय** रखे गये।

१९. आपके एक शिष्य **आनन्दविजय**जी नाम के भी थे। यह श्रीविजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) से भिन्न थे। यह प्रायः राधनपुर (गुजरात) में रहे।

२०. मालेरकोटला (पंजाब) के अग्रवाल बनिये खरायतीमल ने वि० सं० १९३१ में स्थानकवासी दीक्षा छोडकर अहमदाबाद में संवेगी दीक्षा ली। नाम **खांतिविजयजी** रखा।

२१. वि० सं० १९३२ में स्थानकवासी दीक्षा का त्याग कर १५ स्थानकवासी शिष्य-प्रशिष्यों के साथ अहमदाबाद में ऋषि

आत्मारामजी ने दीक्षा ली । नाम आनन्दविजय रखा आचार्य पदवी के बाद आपका नाम आचार्य श्री**विजयानन्दसूरिजी** हुआ ।

(१) उपर्युक्त विवरण में २१ नाम आये हैं। इनमें से x निशान वाले ७ साधु आप का साथ छोडकर कोई मर गया, कोई भाग गया, कोई यति हो गया और कोई लुंकामती ही रहा।

(२) बाकी के १४ शिष्य जीवनपर्यन्त चारित्र का पालन करते हुए स्वर्गवासी हुए।

(३) इनके अतिरिक्त और किस-किस ने दीक्षा लेकर आपका शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त किया इसका विवरण प्राप्त नहीं हो पाया।

श्रीबुद्धिविजयजी महाराज द्वारा प्रतिबोधित मुख्य श्रावक

पंजाब में स्थानकमार्गी (लुंकामत) के प्रसार के साथ एक बात विशेष उल्लेखनीय है और वह यह है कि उस समय श्रावकवर्ग भी थोकडों, बोल-विचारों तथा जैनागम-सूत्रों के अभ्यासी होते थे। प्रत्येक नगर और गाँव में स्थानकवासियों के मान्य ३२ आगम सूत्रों का जानकार एकाध श्रावक तो अवश्य मिल ही जाता था । संवेगियों के समान आगमादि पढने के लिये उपधान, योग आदि वहन करने के लिये कोई शर्त नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ साधु नहीं पहुँच पाते थे वहाँ पर भी जैनधर्म के अनन्य श्रद्धालु विद्वान श्रावक आगमादि के व्याख्यान, पठन-पाठन द्वारा जिनधर्मियों को लाभान्वित करते थे। यही कारण था कि श्रावक-श्राविकाएं लुंकापंथ के आचार-विचार में दृढ रहते चले आ रहे थे। यति लोग भी श्रावकों को शास्त्र-बोध कराने में दिलचस्पी रखते थे।

इन साधु-साध्वीयों के व्याख्यान में थोकडों, बोल-विचारों और आगम-शास्त्रों के जानकार श्रावकों की भी उपस्थिति रहती थी । जिससे व्याख्यान करनेवाले साधु-साध्वीयों को बहुत सतर्कता के साथ व्याख्यान करना होता था । यदि वे लोग आगम के मूल पाठ और टब्बा अर्थ में कोई स्खलना कर जाते, तो विद्वान श्रावक उन्हें तुरन्त सावधान करते । पूज्य बूटेरायजी तथा श्रीआत्मारामजी के चारित्रों से आप स्पष्ट जान पायेंगे कि प्रभु महावीर के शुद्धमार्ग की प्ररूपणा तथा सद्धर्म के पुनरुत्थान में इन्हीं विद्वान सुश्रावक रत्नों के सहयोग से ही आप दोनों गुरु-शिष्य को सफलता मिली थी । आज के समान यदि उस समय भी श्रावकवर्ग को जैन आगम-सूत्रों का अभ्यास न होता तो उन आगम-शास्त्रों के अर्थों के सत्य-झूठ का निर्णय श्रावकवर्ग तथा मुनिद्वय कदापि न कर पाते । सत्य-झूठ का निर्णय न करपाने से इनके लिये सफलता कोसों दूर रहती । अन्धे को दर्पण से जैसे कोई लाभ नहीं वैसे ही सामनेवाले को आगमज्ञान के बिना बडे से बडा विद्वान भी प्रतिबोध देने में प्रायः असफल रहता है।

अन्यलिंगियों द्वारा फैलाये हुए मिथ्यात्वांधकार के बादलों को छिन्न-भिन्न करके सम्यदर्शन रूप प्रकाश से पंजाब में पूज्य बूटेरायजी तथा पूज्य आत्मारामजी ने हजारों परिवारों को प्रतिबोध देकर श्रीमहावीर प्रभु द्वारा प्ररूपित सद्धर्म का अनुयायी बनाये थे । इन हजारों परिवारों में पूज्य बूटेरायजी को जिन विद्वान श्रावकों का सहयोग मिला था उनकी नगर-वार सूची यहाँ लिखते हैं । खेद है कि आज श्रावकवर्ग प्रायः आगमज्ञान आदि का अभ्यासी नहीं रहा । आज के दूषित वातावरण से जैनधर्म के संरक्षण के लिये परमावश्यक है कि आज भी श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप

चतुर्विध संघ का प्रत्येक व्यक्ति इसकी ओर लक्ष्य दे और आगमादि का अभ्यास करे ।

१-**गुजरांवाला** - लाला धर्मयशजी के सुपुत्र सुश्रावक लाला **कर्मचन्दजी दूगड** शास्त्री तथा लाला निहालचन्दजी के सुपुत्र लाला **गुलाबरायजी बरड** । ये दोनों आगम-सूत्रों के जानकार थे । बूटेरायजी महाराज ने लाला कर्मचन्दजी से चर्चा करके इनको सर्व प्रथम पंजाब में प्रतिबोधित किया । जिसके परिणामस्वरूप यहाँ के चार-पाँच परिवारों को छोडकर सब ओसवाल भावडे परिवार लुंकामत का त्याग कर आपके अनुयायी हो गये । अपरंच लाला **कर्मचन्दजी** शास्त्री से वि० सं० १९०२ से लेकर १९०७ (छह वर्षों) तक मुनि श्री**मूलचन्दजी** ने थोकडों, बोल-विचारों तथा जैनागमों का अभ्यास कर विद्वत्ता प्राप्त की, जिससे उन्होंने सत्यधर्म को समझा ।

२-**पपनाखा** - लाला **गणेशेशाह** और लाला **जिवन्दामल** ये दो मुख्य श्रावक थे । इन के प्रतिबोध के बाद **पपनाखा, गोदलवाला, किला-दीदारसिंह** के सब ओसवाल भावडे परिवार सद्धर्म के अनुयायी हो गये ।

३-**रामनगर** - लाला **मानकचन्दजी** गद्दिया हकीम । यह बत्तीस आगमों का जानकार मुख्य श्रावक था । इसके प्रतिबोध के बाद यहाँ के सब ओसवाल भावडे परिवार सद्धर्म के अनुयायी होगये ।

४-**लाहौर** - लाला **साहिबदित्तामल**, लाला **हरिराम** और लाला **बूटेशाह जौहरी** आदि ।

५-**अमृतसर** - लाला **उत्तमचन्द** आदि ।

६-**पिंडदादनखाँ** - लाला **देवीसहाय** अनविधपारख तथा सारा जैनसंघ ।

७-**रावलपिंडी** - प्रज्ञाचक्षु-तपस्वी **मोहनलाल जख** ।

८-**अम्बाला शहर** - लाला **मोहोरसिंह**, लाला **सरस्वतीमल अग्रवाल** आदि ।

९-**दिल्ली** - **भोलानाथ टांक, शिवजीराम छजलानी, इन्द्रजीत दूगड, हीरालाल दूगड ।**

१०-**जम्मू** - लाला **सोभारामजी** ओसवाल भावडा (कवि) आदि ।

११-**पसरूर-किला-सोभासिंह** - लाला **जिवन्दशाह दूगड** आदि ।

इसी प्रकार पंजाब के अनेक नगरों और ग्रामों में साधु अवस्था में आपने १८ चौमासे किये । दिल्ली से लेकर रावलपिंडी तक विचरण किया । सब जगह आपके भक्त श्रावक थे । यहाँ तो हमने मात्र उन्हीं श्रावकों की नामावली दी है, जिसके उल्लेख आपके द्वारा रचित मुखवस्त्रिका विषयक चर्चा पुस्तक में से मिल पाये हैं ।

पूज्य बुद्धिविजयजी के जीवन की मुख्य घटनाएं

१- वि० सं० १८६३ (ई० स० १८०६) में पंजाब के दुलूआ नामक गांव में सिखधर्मानुयायी जाट-क्षत्रीय वंश में चौधरी टेकसिंह गिल गोत्रीय की पत्नी कर्मोदेवी की कुक्षी से आपका जन्म हुआ । जन्म नाम माता-पिता द्वारा रखा हुआ टलसिंह । परन्तु आपका नाम दलसिंह प्रसिद्ध हुआ ।

२- वि० सं० १८७१ (ई० स० १८१४) में पिता टेकसिंह की मृत्यु । माता के साथ दूसरे गाँव बडाकोट साबरवान में जाकर बस जाना । वहाँ पर आपका नाम बूटासिंह प्रसिद्ध हुआ ।

३- वि० सं० १८७८ (ई० स० १८२१) में पंद्रह वर्ष की आयु में संसार से वैराग्य, दस वर्ष तक सद्गुरु की खोज ।

४- वि० सं० १८८८ (ई० स० १८३१) में लुंकामती साधु नागरमल्लजी से स्थानकमार्गी साधु की दीक्षा दिल्ली में, नाम ऋषि बूटेरायजी । आयु २५ वर्ष । आप बालब्रह्मचारी थे ।

५- वि० सं० १८८८ से १८९० (ई० स० १८३१ से १८३३) तक गुरुजी के साथ रहे । दिल्ली में तीन चौमासे किये । थोकडों और आगमों का अभ्यास किया ।

६- वि० सं० १८९१ (ई० स० १८३४) में तेरापंथी-मत (स्थानकमार्गियों के उपसंप्रदाय) के आचार-विचारों को जानने-समझने के लिये उसकी आचरणा सहित तेरापंथी साधु जीतमलजी के साथ जोधपुर में चौमासा ।

७- वि० सं० १८९२ (ई० स० १८३५) में पुनः वापिस अपने दीक्षागुरु स्वामी नागरमल्लजी के पास आये और वि० सं० १८९२-१८९३ (ई० स० १८३५-३६) दो वर्ष दिल्ली में ही गुरुजी के अस्वस्थ रहने के कारण उनकी सेवा-शुश्रूषा-वैयावच्च में व्यतीत किये । वि० सं० १८६३ में दिल्ली में गुरु का स्वर्गवास ।

८- वि० सं० १८९५ (ई० स० १८३८) में अमृतसर निवासी ओसवाल भावडे अमरसिंह का दिल्ली में लुंकामती ऋषि रामलाल से स्थानकमार्गी साधु की दीक्षा ग्रहण तथा आपकी ऋषि रामलाल से ''मुखपत्ती मुँह पर बाँधना शास्त्रसम्मत नहीं'' के विषय पर चर्चा । विचारों में हलचल की शुरूआत ।

९- वि० सं० १८९७ (ई० स० १८४०) में गुजरांवाला (पंजाब) में शुद्ध सिद्धान्त (सद्धर्म) की प्ररूपणा का आरंभ,

श्रावक लाला कर्मचन्दजी दूगड शास्त्री के साथ जिनप्रतिमा तथा मुखपत्ती विषय पर चर्चा करके यहाँ के सकल संघ को प्रतिबोध देकर शुद्ध सत्य जैनधर्म का अनुयायी बनाया।

१०- वि० सं० १८९७ से १९०७ (ई० स० १८४० से १८५०) तक रामनगर, पपनाखा, गोंदलाँवाला, किला-दीदारसिंह, किला-सोभासिंह, जम्मू, पिंडदादनखाँ, रावलपिंडी, पसरूर, दिल्ली, अमृतसर, लाहौर, अम्बाला आदि पंजाब के अनेक ग्रामों तथा नगरों में सद्धर्म की प्ररूपणा द्वारा सैंकडो परिवारों का शुद्ध जैनधर्म को स्वीकार करना। लुंकामतियों के साथ शास्त्रार्थ में विजय। विरोधियों का डटकर मुकाबिला और विजयपताका फहराना।

११- वि० सं० १९०२ (ई० स० १८४५) में स्यालकोट निवासी १६ वर्षीय बालब्रह्मचारी युवक मूलचन्द बीसा ओसवाल भावडे बरड गोत्रीय को गुजरांवाला में दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और ऋषि मूलचन्द नाम की स्थापना की। इनको सुयोग्य विद्वान बनाने के लिये गुजरांवाला में वि० सं० १९०७ (ई० स० १८५०) तक छह वर्षों के लिये यहाँ के सच्चरित्रसंपन्न, बारह-व्रतधारी सुश्रावक जैनागमों के मर्मज्ञ जानकार लाला कर्मचन्दजी दूगड के पास छोडकर आप अकेले ही सद्धर्म के प्रचार के लिये ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे।

१२- वि० सं० १९०३ (ई० स० १८४६) को गुजरांवाला और रामनगर के रास्ते में आपने और श्रीमूलचन्दजी ने मुँहपत्ती का डोरा तोडकर व्याख्यान तथा बोलते समय हाथ में मुँहपत्ती लेकर मुख के आगे रखकर बोलना शुरू किया।

१३- वि० सं० १९०८ (ई० स० १८५१) को पंजाब से गुजरात जाने के लिये विहार किया । जैन-तीर्थों की यात्रा, शुद्ध धर्मानुयायी सद्गुरु की खोज, श्रीवीतराग केवली भगवन्तों द्वारा प्ररूपित आगमों में प्रतिपादित स्वलिंग मुनि के वेष को धारण करके मोक्ष मार्ग की आराधना और प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादन जैन-मुनि के चारित्र को धारण करने के लिये प्रस्थान किया ।

१४- वि० सं० १९१२ (ई० स० १८५५) में आपने अहमदाबाद में तपागच्छीय गणि श्रीमणिविजयजी से अपने दो शिष्यों मुनिश्री मूलचन्दजी तथा मुनिश्री वृद्धिचन्दजी के साथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनधर्म की संवेगी दीक्षा ग्रहण की । आपश्री मणिविजयजी के शिष्य हुए, नाम बुद्धिविजयजी रखा गया तथा अन्य दोनों साधु आपके शिष्य हुए । नाम क्रमशः मुनि मुक्तिविजयजी तथा मुनि वृद्धिविजयजी रखा गया ।

१५- वि० सं० १९१९ (ई० स० १८६२) में पुनः पंजाब में आपका प्रवेश । इस समय आपके साथ आपके दो अन्य शिष्य भी थे ।

१६- वि० सं० १९२० से १९२६ (ई० स० १८६३ से १८६९) तक आपने उपदेश द्वारा निर्माण कराये हुए आठ जिनमंदिरों की पंजाब में प्रतिष्ठा की, रावलपिंडी, जम्मू से लेकर दिल्ली तक शुद्ध जैनधर्म का प्रचार और लुंकामती ऋषि अमरसिंह से शास्त्रार्थ ।

१७- वि० सं० १९२८ (ई० स० १८७१) को पुनः गुजरात में पधारे । वि० सं० १९२९ (ई० स० १८७२) में अहमदाबाद में मुखपत्ती विषयक चर्चा । संवेगी साधुओं, श्रीपूज्यों, यतियों (गोरजी) के शिथिलाचार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन की शुरूआत ।

१८– वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) में अहमदाबाद में पंजाब से आये हुए ऋषि आत्मारामजी को उनके १५ शिष्यों–प्रशिष्यों के साथ स्थानकमार्गी अवस्था का त्याग कराकर संवेगी दीक्षा का प्रदान करना। श्रीआत्मारामजी को अपना शिष्य बनाकर नाम आनन्दविजय रखना। शेष १५ साधुओं की उन्हीं के शिष्यों–प्रशिष्यों के रूप स्थापना करना (आनन्दविजयजी वि० सं० १९४३ में पालीताना में आचार्य बने, नाम विजयानन्दसूरि)

१९– वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) में आपकी निश्रा में मुनि आनन्दविजय (आत्मारामजी) तथा शान्तिसागर के शास्त्रार्थ में मुनिश्री आनन्दविजयजी की विजय।

२०– वि० सं० १९३२ से १९३७ (ई० स० १८७५ से १८८०) तक अहमदाबाद में आत्मध्यान में लीन।

२१– आपने अनेक बार सिद्धगिरि आदि अनेक तीर्थों की यात्राएं संघो के साथ तथा अकेले भी की।

२२– वि० सं० १९३८ (ई० स० १८८१) चैत्र वदि ३० को अहमदाबाद में आपका स्वर्गवास।

श्रीबुद्धिविजयजी द्वारा क्रांति

१– व्याख्यान वाँचते समय कानों के छेदों में मुखपत्ती डालकर व्याख्यान न करना।

२– चैत्यवासी यतियों, श्रीपूज्यों, गोरजी का श्वेताम्बर जैनसाधु के वेष में परिग्रहसंचय तथा जिनचैत्यों में निवास एवं जैनशासन विरुद्ध आचार होने के कारण, ऐसे असंयतियों की भक्ति–पूजा का विरोध।

३- लुंकामतियों (स्थानकमार्गियों) द्वारा जिनप्रतिमा-भक्ति का विरोध तथा मुँहपत्ती में डोरा डालकर चौबीस घंटे उसे मुख पर बाँधे रहना, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित जैनागमों के विरुद्ध साधुवेष होने से ऐसे अन्यलिंगियों की पूजा मानता का निषेध।

४- शिथिलाचारी संवेगी साधुओं का श्रावक-श्राविकाओं द्वारा अपने लिये धन-संचय करना एवं वर्षों तक एक स्थान पर स्थानापति के रूप में निवास करना, रात्री को दीये-बत्ती की रोशनी में व्याख्यान करना, साधु-साध्वीयों, श्रावक-श्राविकाओं का एक स्थान में रहना आदि अनेक प्रकार के शिथिलाचार-भ्रष्टाचार सेवन करनेवाले पासत्थों की पूजा तथा अनेक क्रियाएं और बातें श्रीजैनागमों के विरुद्ध होने के कारण सद्गुरुदेवश्री बूटेरायजी ने इनका विरोध कर सुधार का बीडा उठाया और वह सद्धर्म के प्रचार तथा पुनर्स्थापन करने के लिये दृढतापूर्वक डट गये।

५- पंजाब में लुंकामती ऋषियों ने और पूजों (यतियों) ने तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित जैनधर्म के शुद्ध स्वरूप में विकृति ला दी थी।

६- भारत के अन्य प्रदेशों में उपर्युक्त दोनों कारणों के साथ शिथिलाचारी-स्थानापति संवेगी साधु; इन तीनों की जैनागमों के विरुद्ध आचरणा का प्रचार हो जाने के कारण जैनधर्म के स्वरूप का विकृत रूप में लोगों में प्रचार पा जाना इत्यादि ऐसी शिथिलताओं को मिटाया।

७- पंजाब में आपने सदा एकाकी विहार किया। किसी भी श्रावक आदि की सहायता अथवा सब प्रकार के आडम्बर आदि से रहित विचरते रहे। आहार-पानी, निवासस्थान आदि की दुर्लभ प्राप्ति अथवा अभाव के कारण भी क्षुधा-पिपासा आदि परिषह

सहन करने में दृढसंकल्प थे । अपनी सुरक्षा तथा सुख-सुविधाओं के लिये अपने साथ किसी भी प्रकार का प्रबंध रखना शास्त्र-मर्यादाओं का उल्लंघन समझते थे । आप किसी भी श्रीसंघ की सहायता के बिना तथा उसे बिना समाचार दिये विहार करते थे ।

८- आपने एकाकी घोर उपसर्गों, कठोर परिषहों, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी को बर्दाश्त कर श्रीतीर्थंकर केवली भगवन्तों के वास्तविक सत्यधर्म के पुनरुत्थान करने में विजय प्राप्त की । पश्चात् आपके ही लघुशिष्य तपागच्छीय जैनाचार्य न्यायाम्भोनिधि श्रीविजयानन्दसूरीश्वर (आत्मारामजी) महाराजने इन पाखंडों को जड-मूल से हिला दिया ।

९- गुजरात और सौराष्ट्र में आपश्री के साथ आपके दो सुशिष्यों १-गणिश्री मुक्तिविजय (मूलचन्दजी) २-शांतमूर्ति आदर्श गुरुभक्त मुनिश्री वृद्धिविजय (वृद्धिचन्दजी), पंजाब में नवयुग निर्माता न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीविजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) ने विजयदुंदुभी बजायी । गणिश्री मूलचन्दजी तथा मुनिश्री वृद्धिचन्दजी गुजरात में आने के बाद अपनी जन्मभूमि पंजाब में कदापि नहीं गये । ये दोनों गुजरात तथा सौराष्ट्र में ही विचरे ।

हाँ, आप मुनिराजों के शिष्य-प्रशिष्य परिवार ने भारत के अन्य सारे प्रदेशों में भ्रमण करके इन तीनों गुरुभाइयों - गणि मूलचन्दजी, मुनि वृद्धिचन्दजी तथा आचार्य विजयानन्दसूरिजी ने जिन क्षेत्रों को स्पर्श (विहार) नहीं किया था, वहाँ विचर कर सद्धर्म का व्यापक प्रचार किया ।

आज तपागच्छ में हजारों की संख्या में साधु-साध्वीयाँ हैं । इनमें अधिकतम समुदाय सद्धर्मसंरक्षक पूज्य बूटेरायजी का ही है ।

जो भारत के कोने-कोने में सद्धर्म की प्ररूपना करके जैनधर्म का झंडा लहरा रहे हैं।

सारांश यह है कि यद्यपि भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो चुका था, परन्तु पंजाब में लोहपुरुष सिखवीर महाराजा रणजीतसिंह का राज्य था। इस समय तक पंजाब में लुंकामती स्थानकपंथियों के प्रचार तथा प्रसार के कारण और संवेगी साधुओं के विहार न होने के कारण जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक धर्म लुप्तप्राय: हो चुका था। जिनमंदिर तो थे, पर उन में पूजा-अर्चा करनेवाला कोई न था। इन मंदिरों का संरक्षण तथा पूजा-अर्चा आदि की सब व्यवस्था पूज (यति) लोग ही करते थे। वे जैन धर्मानुयायी तथा दृढ ब्रह्मचारी एवं त्यागी भी थे। आपने पंजाब में सद्धर्म का पुनरुद्धार तो किया ही परन्तु गुजरात और सौराष्ट्र को भी धर्म में खूब चुस्त किया।

पूज्य बूटेरायजी को पंजाब की सदा याद आती थी, पर लगभग ७० वर्ष की आयु हो जाने के कारण वृद्धावस्था और जंघाबल लम्बा विहार करने के लिये सहयोगी नहीं हो रहे थे। इसलिये पंजाब वापिस न पधार सके। आपने गुजरात गणिश्री मूलचन्दजी को, सौराष्ट्र शांतमूर्ति मुनिश्री वृद्धिचन्दजी तथा नीतिविजयजी को और पंजाब न्यायाम्भोनिधि आचार्यश्री विजयानंदसूरि (आत्मारामजी) को सोंपे। इन शिष्यों ने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर आपकी भावना को चार चांद लगा दिये और सर्वत्र शुद्ध जैनधर्म का डंका बजाया। सनातन जैन श्वेताम्बर धर्म का संरक्षण तथा संवर्धन किया।

अलौकिक धर्मप्रेम, असीम आत्मश्रद्धा, अजोड नि:स्वार्थता तथा अद्‌भुत निस्पृहता से क्षत्रीय वीर सिख जाति के सपूत

बालब्रह्मचारी श्रीबूटेरायजी महाराज इस काल में संवेगी साधु-संस्था के आदि जनक कहलाये । आपकी निःस्पृहता अजब थी । पंजाब से लेकर गुजरात, सौराष्ट्र तक समस्त जीवन में जैनधर्म का डंका बजाने में आप अलौकिक पुरुष के रूप में निखरे । सद्धर्म के संरक्षण के लिये प्राणों की बाजी लगा कर सच्चे वीर पुरुष कहलाये और अपने पीछे उज्ज्वल वैराग्य और चारित्रसम्पन्न शिष्य-समुदाय को छोड गये । जिनके नामों और कार्यों से आज भी जैन समाज जयवन्ता है । आप के शिष्य ३५ थे और आज भी आप के समुदाय के साधु-साध्वीयाँ एक हजार से कम तो नहीं होंगे, अधिक ही होंगे । आपके पश्चात् पंजाब में श्रीविजयानन्दसूरि, उनके पट्टधर श्रीविजयवल्लभसूरि के समुदाय के साधु-साध्वीयों के सिवाय किसीने विचरने की कृपा नहीं की यह खेद का विषय है । पंजाब में ज्ञान, चारित्र सम्पन्न संवेगी श्वेताम्बर साधु-साध्वीयों का विहार आज भी उतना ही आवश्यक है जितना कि सद्धर्मसंरक्षक पूज्य बूटेरायजी अथवा श्रीआत्मारामजी महाराज के समय में था । हर्ष का विषय है कि फिर भी आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी के पट्टधर जिन-शासन-रत्न शांतमूर्ति आचार्यप्रवर श्रीविजयसमुद्रसूरिजी महाराज ८५ वर्ष की वृद्धावस्था में शरीर अस्वस्थ तथा जंघाबल के जवाब दे जाने पर भी अपने शिष्य-परिवार के साथ इस धरती को सद्धर्म से सिंचन कर रहे हैं । वन्दन हो इस सद्धर्मसंरक्षक सत्यवीर श्रीबुद्धिविजय (बूटेरायजी) की साधुता को ।